

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३५ अंक-१६१, वर्ष-१४, फरवरी-२०११

पोष सुदि ३, शुक्रवार दिनांक १३-१-१९६९, पुरुषार्थसिद्धियुपाय,
गाथा-१४ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-१६

अब आगे इस संसार का मूलकारण दर्शाते हैं - १४ वीं गाथा -

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।

प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥१४॥

सहित तुझे भासित होता है। निमित्त उन्हें ऐसा भासित करता है ? भास करवाता है ? 'प्रतिभाति' तुझे भासित होता है ऐसा कहते हैं। तुझे भासित होता है कि कर्म के निमित्त के संग से उत्पन्न हुआ मलिन भाव तुझे अपने स्वभाव के साथ एकरूप भासित होता है यह तेरी भूल है। वह मिथ्यात्वभाव है, संसारभाव है, वह भटकने का भाव है। कहीये समझ में आया ? 'प्रतिभाति बालिशानां' किसको ? 'बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्' अज्ञानियों को भी अज्ञान के कारण, कर्म के कारण ऐसा नहीं कहा वहाँ पर। ऐसे विकारी भाव कर्म के कारण ही होते हो तो विकारीभाव को अपना मानना यह भी कर्म के कारण ही मान रहा है ऐसा सिद्ध हो जाये। समझ में आया ? क्या समझ में आता है कि नहीं ?

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप (है) उसमें विकारीभावों का होना यह यदि कर्म के कारण ही होते हो जब तो विकारीभाव को तू स्वभाव सहित मानते हो ऐसा कहना ही व्यर्थ होगा। वैसा मानना भी कर्मवशात् ही हो रहा है ऐसा सिद्ध हो जायेगा, कहीये, निमित्त उड़ जाता है इसमें वास्तव में तो। इसमें निमित्त स्थापित करते हैं। निमित्त स्थापितकर उसका उपाधिभाव स्थापित करना है, ऐसा स्थापित करना है। उपाधिभाव में निमित्त होता है, स्वभावभाव में निमित्त नहीं होता यह सिद्ध करते हैं। क्या कहा ?

भगवानआत्मा ज्ञानानंद स्वरूप सच्चिदानंद प्रभु (है)। फिर भी कहते हैं कि, इसमें उपाधिभाव है उसे निमित्त द्वारा कहा है, स्वभाव द्वारा नहीं, ऐसा कहकर उस विकार को उपाधिभाव स्थापित करते हैं। और ऐसा उपाधिभाव स्वभाव के साथ एकमेक है ऐसा अज्ञानियों को भासित होता है ऐसा कहा है। कर्म के कारण एकमेक भासित हो रहा है ऐसा कहा है ? समझ में आया इसमें ? अर्थ देखिये।

'एवम् इस तरह 'अयं.....' देखो ! निमित्त से उत्पन्न उपाधिभाव। पहले तो जीवकृत कहा था। कहा था कि नहीं ? 'जीवकृतं' १२ वीं गाथा का पहला शब्द 'जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रथम' आहा ! गाथा के अर्थघटन में भी विपरीत दृष्टिकोण। विपरीत परिणामन है तो उपर से अर्थघटन



भी विपरीत करना है। कर्मों से कृत का अर्थ क्या करना है ? कि, निमित्त द्वारा उत्पन्न तेरे उपाधिभाव यह वास्तविक आत्मा का स्वरूप नहीं है। समझ में आया ? **‘रागादि अथवा शरीरादि भावों से...’** देखो ! दोनों लिये.. है न श्लोक ? वह श्लोक लेंगे, दोनों लिये हैं।

यह आत्मा कर्मों के निमित्त से हुए आत्मा में पुण्य-पाप, काम-क्रोध आदि उपाधिभाव (हो) और निमित्त से हुए ये शरीरादि बाह्य वर्ण, गंध, रस, स्पर्श का प्राप्त होना वह। दो (बात की)। आत्मा तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति (है)। उसके त्रिकाली शुद्ध स्वभाव में विकार नहीं है। यह विकार उपर ही उपर एक क्षण में उत्पन्न हुई उपाधि, निमित्त के अधीन हुई, आश्रय से हुई तेरे में उपाधि है। की है स्वयं ने किन्तु निमित्त को अधीन होकर की है, स्वभाव अधीन नहीं हुई। समझ में आया ? ऐसी निमित्त के अधीन उत्पन्न हुई उपाधि को स्वभाव के साथ समाहित मानना... देखो ! **‘संयुक्त न होने...’** भगवान् आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आनंद की मूर्ति आत्मा है। अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप ऐसे आत्मा को ऐसे उपाधिभावसहित स्वीकार करना यही संसार और मिथ्यात्व (है), बीज है, भटकने का बीज है। समझ में आया ?

इसमें भी क्या कहा ? **‘संयुक्त...’** (संयुक्त) कौन मानता है ? **‘अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है।’** वहाँ ऐसा न कहा कि भाई ! कर्म के निमित्त से उन्हें संयुक्त सहित प्रतिभास होता है। दर्शनमोह के निमित्त से निमित्त द्वारा जीव को आत्मा का स्वभाव ऐसे उपाधिभाव सहित है, - ऐसा मिथ्यात्व के कारण, दर्शनमोह के कारण भासित होता है - ऐसा नहीं कहा।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य गुरुदेवश्री :- ऐसा ही कहते हैं - समझ लेना चाहिये कि तेरे अपने से उत्पन्न उपाधिभाव, उसमें निमित्त था। ऐसे उपाधिभाव को स्वभाव के साथ मानना यह भी तेरी ही मान्यता है, कर्म

मनवाता है - सो बात नहीं है। न तो उसकी उत्पत्ति कर्म के कारण से हुई है नहीं उसके सहित अपनी मान्यता को कर्म कराता है। समझ में आया ? उटपटांग (लगे किन्तु) बहुत अच्छी बात की है।

‘अज्ञानी जीवों के...’ भगवान् शुद्ध स्फटिक चैतन्य जैसा उसमें कहते हैं कि, यह उपाधिभाव स्वभाव के आधार से नहीं अपितु निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न उपाधि, तेरे में उत्पन्न हुआ ‘परिणममानस्य’ वह विकार का भाव निमित्त के अधीन हुआ, स्वभाव अधीन नहीं (हुआ) इसलिए वहाँ निमित्त अधीन है ऐसा कहा गया है। और ऐसे निमित्त के अधीन हुआ मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि भाव, उपाधिभाव, क्षणिकभाव, उपर तेरता भाव क्षणिक समय पूर्ति हुए भाव को त्रिकाली शुद्ध भगवान् आत्मा के सहित मानना ही मिथ्यात्वभाव संसारभाव है। समझ में आया ? है कि नहीं इसमें भी ? देखिये न ! ये पुस्तक सामने ही तो है।

‘.....’ बढ़िया सिद्धांत कह दिया। समझ में आया ? चैतन्य भगवान् ज्ञानानंद चैतन्यज्योत वह तो शुद्ध आनंद की मूर्ति आत्मा है। उसमें परिणमन कर रहा आत्मा विकार की उपाधिरूप जो राग, द्वेष, पुण्य, पापरूप होता है उसमें निमित्त के अधीन हुआ भाव, वह उपाधि है। किया हुआ खुद का, निमित्त पर है। यहाँ स्वभाव अधीन नहीं है इसलिये निमित्त पर ऐसा सिद्ध करना है। और निमित्त के अधीन क्षणिक कृत्रिम त्रिकाल स्वभाव में नहीं ऐसे उत्पन्न हुए विकारी भावों को स्वभाव के साथ सहित हैं, संयुक्त हैं, जुड़े हुए हैं, एकमेक हैं - ऐसी मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। यह मिथ्यात्व संसार का बीज है। कहीये, समझ में आया कि नहीं ? कितनी बात सिद्ध करते हैं।

भगवान् आत्मा तो शुद्ध चैतन्य की मूर्ति परमानंद स्वरूप आत्मा उसे आत्मा कहते हैं। ऐसा परमानंद शुद्ध ज्ञायक स्वरूप चैतन्य इसकी वर्तमानदशा में उपाधि के भाव मैले राग जो पुण्य-

पाप के (होते हैं) वह स्वभाव में नहीं है, स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न नहीं स्वभाव के लक्ष्य से नहीं बने। निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न हुए उपाधिभाव (हैं) इसलिये निमित्त द्वारा उत्पन्न हुए ऐसा कहा गया है। ऐसे जो विकारी भाव पुण्य और पाप, काम और क्रोध विकारी, शुभाशुभभाव वह उपाधि है, क्षणिक है, निमित्त अधीन हुए हैं, स्वभाव में नहीं है। उसे जो कोई अपने शुद्ध स्वरूप में विकारी कृत्रिम को त्रिकाली स्वभाव के साथ मानना इसी का नाम संसार का बीज और मिथ्यात्व है। आहाहा...! कहीये !

आगंतुक भाव। घर में किसी का गहना ले आये न पाँच हजार का 'दागीना' को क्या कहते हैं ? जेवर। उसे घर की पूँजी में गीन ले तो ? आभूषण, घर की पूँजी, 'मुड़ी मुड़ी...' पूँजी में साथ-साथ खता दें कि ये भी मेरा, दस हजार मेरा है। ऐसा यहाँ कहते हैं, आत्मा की पूँजी तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनंद की खान है। इसमें कर्म के निमित्त से अधीन हुई उपाधि क्षणिक आगंतुक विकारी भाव है। जैसा आया हुआ महेमान वापिस चला जायेगा, वह कोई रहनेवाला नहीं है।

इसतरह ऐसा विकारीभाव, पुण्य-पाप के मलिन भाव वह निमित्त के अधीन हुए आगंतुक (भाव) स्वभाव में नहीं है, पर्याय में उत्पन्न हुए ऐसे भाव है। ऐसे विकारी भाव कृत्रिम पुण्य-पाप के, कृत्रिम आगंतुक स्वभाव की खान में नहीं है, पर्याय में निमित्त के अधीन हुई उपाधि है। ऐसे उपाधिभाव को त्रिकाली निरुपाधि स्वभाव के साथ खता दे कि ये भी मेरे हैं उसका नाम आस्रव तत्त्व मेरे स्वभाव का है (ऐसा मानते हैं)। पहले अजीव तत्त्व कहा था, अजीव के अधीन हुआ। ऐसी उपाधि का मिथ्यात्व राग-द्वेष भाव वह शुद्ध चैतन्य तत्त्व, ज्ञायक तत्त्व है इसके साथ आस्रव तत्त्व सहित है ऐसास्वीकार करना ही मिथ्यात्व और संसार है ऐसा कहते हैं। तीनों तत्त्व की भिन्नता कर दी। यह ज्ञायक, आस्रव और अजीव। समझ में आया ?

जीव तत्त्व यानी कि ज्ञायकस्वरूप भगवान पूर्ण शुद्ध चैतन्य। अजीव पुद्गल तत्त्व। वह लेना है कि नहीं यहाँ पर ? कर्म का उदय है वह अजीव तत्त्व है। जीव अपने अंदर ज्ञान और आनंद से भरा आत्मा भगवान पूर्णआनंद का नाथ ही है। परन्तु तूने अनादि से स्वभाव का लक्ष्य छोड़ा है ऐसी स्वभावस्थिति होने पर भी यह स्वभाव का लक्ष्य छोड़ा है। इसलिये उसका लक्ष्य अजीव की पर्याय अजीव पर गया है। जिसके पर गया उसे यहाँ निमित्त कहा गया है। परन्तु गया है अपने कारण से। समझ में आया ?

पुण्य और पाप, काम और क्रोध विकारी भाव में पर के लक्ष्य से लक्ष्य गया है। इससे उत्पन्न हुआ (है)। अब कहते हैं कि अजीव तो भिन्न है ऐसा सिद्ध किया, इससे उत्पन्न अपनी उपाधि उससे अधीन सिद्ध कहा। अब वह आस्रव, वह अजीव जो चीज है वह तो आत्मा में नहीं है, वह निमित्त, परन्तु निमित्त के अधीन हुआ उपाधिभाव भी त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। ऐसे त्रिकाली स्वभाव में आस्रव सहित आत्मा है ऐसा मानना ही मिथ्यात्व और संसार का बीज है ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'भवबीज' अर्थात् राग-द्वेष भाव, पुण्य-पाप के भाव स्वभाव में नहीं है। स्वभाव तो मोक्ष का बीज है। भगवानआत्मा चैतन्यस्वभाव, शुद्ध स्वभाव वह तो पूर्णानंद की दशा हो उसका नाम वह आत्मा बीज है। ऐसा आत्मा ज्ञायक स्वभाव शुद्ध कंद जिसमें से केवलज्ञान और परमआनंद प्रगट हो उसका वह बीज है। ऐसे आत्म स्वभाव में निमित्त से उत्पन्न हुए उपाधिभाव को मिलाना (कि), 'इसके सहित हूँ' इसका मतलब कि उसमें एकत्वबुद्धि करना, विकार के साथ एकत्वबुद्धि करना वही मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया ? आहा..! कहीये, समझ में आया कि नहीं ?

अभी ये तीन तत्त्व (लेते हैं)। एक जीवतत्त्व, जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप। एक पुद्गलतत्त्व। अभी संबंध में लेना है न ? उसे लेना है न ? अजीवतत्त्व।

क्योंकि जीव के स्वभाव के लक्ष्य से राग-द्वेष-उपाधि नहीं होती। राग-द्वेष के भाव तो निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् अजीवतत्त्व सिद्ध किया। अब उपाधि सिद्ध करके उसके अधीन हुई उसमें, अपने में। अब ऐसा आस्त्रव तत्त्व जो कि उपाधिभाव उसे निरुपाधिक स्वभाव के साथ एकमेक मानना तो ज्ञायक तत्त्व को आस्त्रव तत्त्व के साथ एकमेक मानना, वे दोनों एकरूप हो नहीं सकते, उसे एकरूप मानना इसीका नाम मिथ्यात्व है। समझ में आया ? सुंदर कथन पद्धति गजब की है ! कैसी बात की है देखो न ! १३ और १४ (गाथा)

परिणममानस्य चित्तश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भाविः इतने तो शब्द रखे हैं। **भवति हि निमित्तमात्रं** वहाँ 'भवति' एक निमित्त, वह अजीव। निमित्तमात्र एक पुद्गल है। अजीव को सिद्ध किया। उसके विकार को निमित्त कौन चीज है वह सिद्ध किया। अब तो कहते हैं भाई ! वह निमित्त के अधीन हुआ मलिन आगंतुक विकारी भाव, जो क्षणिक और मलिन और निमित्त अधीन हुआ मैल, उसे निर्मलानंद भगवान के साथ संयुक्तरूप स्वीकार कर लेना उसीका नाम संसार में भटकनेरूप मिथ्यात्व बीज है समझ में आया ? उसका अर्थ कि, एक तत्त्व के साथ दूसरे तत्त्व का एकत्व मानना उसका नाम मिथ्यात्व है ऐसा कहा, लीजिये। समझ में आया कि नहीं ? देखो ! यह १४वीं गाथा बहुत उच्च कक्षा की है, हँ !

टीका :- **'स एवं अयं कर्मकृतैर्भाविः असमाहितः अपि बालिशानां युक्तः इति प्रतिभाति'** समझ में आया ? फिर एक पंक्ति का अंश रहा न वह आखिर में कहेंगे। एक अंश रहा न ? एक अंश बचा थोड़ा सा। कौन ? **'स खलु स प्रतिभास भवबीजम्'** वह पंक्ति का अंश रह गया वह बाद में कहेंगे। वह आखिर में कहेंगे। इतने अंश का पहले अर्थ करते हैं। फिर बाद में कहेंगे। **'खलु स प्रतिभास भवबीजम्'** वह बाद में कहेंगे, आखिर में कहेंगे। **'खलु स प्रतिभास भवबीजम्'** आहा ! बढ़िया बात।

क्या कहते हैं ? भाई समझ में आया इसमें ?
'.....' यानी कि निमित्त द्वारा उत्पन्न हुआ उपाधिभाव, स्वभाव द्वारा नहीं उत्पन्न हुआ, ऐसा। कर्म द्वारा अजीव के आश्रय से, लक्ष्य से, वश होकर उसके द्वारा किया हुआ ऐसा कहने में आया। क्योंकि स्वभाव द्वारा नहीं हुआ है। पुण्य-पाप का भाव, मलिनभाव, राग-द्वेष का भाव स्वभाव द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिए कर्म द्वारा किया हुआ ऐसा कहने में आया है। **'नाना'** अनेक प्रकार के भाव से। पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध विकल्पों की असंख्य प्रकार की जाल। मिथ्यात्व आदि सब हैं ! ऐसे **'भाव से...'** भगवान चैतन्य शुद्ध आनन्द कंद ऐसे उपाधिभाव से सहित नहीं है। स्वभाव में वह रहित है। आहा..हा..! समझ में आया ?

शुभ-अशुभभाव या पर में सुख है ऐसी मिथ्याभ्रान्ति समझ में आया ? कि पाप का भाव वह सारा उपाधिभाव (है)। ऐसा उपाधिभाव त्रिकाल चैतन्य स्वभाव में सहित नहीं है। त्रिकाल शुद्ध स्वभाव विकार सहित नहीं है। ऐसे त्रिकाल शुद्ध भगवान आत्मद्रव्य को विकारभाव सहित नहीं है उसे सहित मानना यह संसार में भटकने का मिथ्यात्व बीज है। आहा..हा..! संप्रदाय में बेचारों को सुनने मिले नहीं। यह तो करो, यह तो करो, यह करो... मिच्छामि दुक्कडम्... यह 'जीवहिया हो ववरोविया' है। देखो ! क्या **'जीवहिया ववरोविया'** कि जिसने चैतन्य ज्ञायक अनन्त गुण सम्पन्न भावप्राण स्वरूपप्रभु, उसे यह पुण्य-पाप के, ये राग-द्वेष के मिथ्यात्व के भाव सहित मानना उसका नाम जिवहिया हो ववरोविया है। उसने आत्मा के जीवन का नाश किया और मिथ्यात्वभाव को उत्पन्न किया। नाश किया माने ? पूर्ण ज्ञायक चैतन्य शुद्ध स्वरूप का आदर न किया यानी कि उसका अस्तित्व ही नहीं है और यह विकारी भावयुक्त सो मैं ही हूँ (उसका नाम नाश किया)। समझ में आया ? (शेष अगले अंक में...)



श्री स्वानुभूतिदर्शन, प्रश्न १२७-१२८ पर पूज्य
भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं. ४१५
(दि.१४-२-१९९७, बोरीवली, बंबई)

प्रश्न :- 'उपयोग को अंतरमें झुकाने जाते हैं किन्तु वह नहीं झुकता और इन्द्रिय मन की ओर आकर्षित हो जाता है। तो, बाहर की ओर का रस तोड़ना और अंतर का रस उत्पन्न करना - ऐसे दो कार्य करने हैं ?' ऐसा प्रश्न किया है।

समाधान :- 'अंतर का रस लगे तो उसे बाहर का रस सहज ही छूट जाता है। उसे दो प्रयत्न नहीं करने पड़ते।' एक ओर के प्रयत्न में जब कार्य होता है तब दूसरी ओर का कार्य अपनेआप हो जाता है। 'अंतर का रस लगे...' स्वरूप को स्वयं का जो स्वरूप है वह अनंत सुख से भरपूर है। इसका अगर विश्वास, इसकी प्रतीति हो कि, है ! मेरे में अनंत सुख है, तभी उसका रस लगे।

जीव को रस कहाँ आता है ? कि जहाँ सुख का निश्चय होता है वहाँ आता है। सुख दिखे वहाँ। सुख का निश्चय कब होता है ? कि, सुख दिखे तब। सुख का अनुमान करे वहाँ इतना सुखी या सुख का खिँचाव नहीं होता परन्तु जब वास्तविक सुख लगे तब परिणाम वहाँ रसपूर्वक खीँचता है। रसपूर्वक खीँचता है। ऐसी एक वस्तुस्थिति है।

इस प्रकार 'अंतर का रस लगे तो उसे बाहर का रस सहज ही छूट जाता है।' एक ओर का तीव्र रस हो तो दूसरी ओर के सभी रस उड़ जाते हैं। सुख-साधन प्राप्त कर सके इसलिए लोग पैसा कमाते हैं। लेकिन फिर पैसा कमाने के पीछे लोग इतने लग जाते हैं कि प्राप्त सुख-साधन भोगने के लिए समय ही नहीं रहता। क्यों ? एक तरफ रस जहाँ तीव्र हुआ कि दूसरी तरफ का रस अपनेआप ही घटता जाता है, कम होता जाता है, संसार में।

इसी तरह आत्मा में सुख है इसका रस लगे तो बाहर के रस सहज ही छूट जाय। बाहर का रस तोड़ने का भी प्रयत्न करे, अंदर का रस (बढ़ाये) - ऐसे दो प्रयत्न करे ऐसे नहीं। एक ओर प्रयत्न करने से दूसरी ओर का काम हो जाता है।

यही लिखा है, 'एक ओर का आकर्षण हो तो दूसरी ओर का रस सहज ही छूट जाता है। जीव को अपने आत्मा तरफ का रस जगे, वहाँ विभाव के ओर का रस सहज ही छूट जाता है।' स्वभाव का रस लगे ही विभाव का रस सहज ही छूट जाता है।

'अपने तरफ की रमणता बढ़े - चैतन्य में लीनता बढ़े वहाँ बाह्य का रस सहज ही छूट जाता है।' ज्ञानदशा में होता है। यह बात ज्ञानदशा की है। 'अपने तरफ की रमणता बढ़े...' रमणता बढ़े यानी लीनता बढ़े। लीनता तो कब बढ़े ? ज्ञानदशा प्रगट हुई हो तभी लीनता बढ़ती है। 'वहाँ बाह्य का रस सहज ही छूट जाता है।'

'जैसे कि स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो वहाँ अनन्तानुबंधी का रस टूट ही जाता है।' चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग हुआ तब जो स्वरूप में लीनता हुई उसे स्वरूपाचरणचारित्र कहने में आता है। चतुर्थ गुणस्थान के लिए दो तरफ की बात आती है। एक ओर की बात ऐसी आती है कि वे तो अविरत सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हें कोई त्याग नहीं होता, पच्चखाण नहीं होते और फिर भी सम्यग्दर्शन है इसलिए उन्हें मोक्षमार्ग है। लेकिन सिर्फ सम्यग्दर्शन है उतना ही नहीं, अविरती होने पर भी उन्हें स्वरूपाचरणचारित्र होता है। स्वरूप में आचरण करना माने परिणमन करना। स्वरूप में एकाग्र होकर परिणमन करना, ऐसा आचरण चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता है।

जाति अपेक्षा से चारित्र की एक ही जाति है। स्वरूपाचरणचारित्र की जाति है। चतुर्थ गुणस्थान में भी यह जाति है, मुनिदशा में छठे-सातवें में भी यही जाति है और बारहवें गुणस्थान में चारित्रगुण पूर्ण शुद्ध होकर परिणमित होकर यथाख्यात चारित्र हो तब भी स्वरूपाचरणचारित्र की ही जाति है।

एक परिणाम को उसकी जाति, उसकी शक्ति, उसकी गति ऐसे तीन पहलू हैं। वैसे तो इसका चौथा पहलू यह है कि उसकी व्यापकता कितनी ? स्वदेहप्रमाण। जितना आत्मा का क्षेत्र हो उतना। इसलिए उसे सत्ता कहते हैं। सत्ता कितनी ? कि, स्वदेहप्रमाण। ज्ञान में भी ऐसा (ही) है। सभी गुण स्वदेहप्रमाण सत्ता में रहते हैं। ज्ञान की, सम्यक्ज्ञान की जाति चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होती है। यही जाति केवलज्ञान की है। जाति नहीं बदलती। ज्ञान की जाति नहीं बदलती। चारित्र की(भी) जाति नहीं बदलती।

जहाँ चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ कि वहाँ अनन्तानुबंधी का रस टूट जाता है। अनन्तानुबंधी का रस टूट जाता है। फिर जो चार (चौकड़ी) हैं - प्रत्याख्यानावरणीय, अप्रत्याख्यानावरणीय, संज्वलन है ये तारतम्य के भेद हैं। तारतम्य माने क्या ? रस की तीव्रता-मंदता के भेद हैं। लेकिन अनन्तानुबंधी तो टूट ही गया है।

'अंदर से स्वानुभूति बढ़े वहाँ देशविरतपना सहज ही आ जाता है।' और ये स्वानुभूति और लीनता जब बढ़ती जाये, ज्यों-ज्यों बढ़े त्यों-त्यों देश यानी अमुक अंश में, देश यानी अमुक अंश में विपरीतपना माने छूट जाना त्याग हो जाना। विकल्पों का भी त्याग हो जाय और विकल्प अनुसार प्रवृत्ति का भी त्याग हो जाय। क्योंकि प्रवृत्ति तो विकल्प अनुसार होती है। जहाँ विकल्प नहीं वहाँ प्रवृत्ति भी नहीं है। जितना बुद्धिपूर्वक के विकल्प का नाश हुआ उतनी वहाँ विरती हुई, उतने अंश में विरती हुई। अतः उसका बाह्य त्याग पंचम गुणस्थान में होता है और उसके ग्यारह भेद लिये हैं। ग्यारह प्रतिमा के ग्यारह भेद लिये हैं। उतना-उतना त्याग बढ़ता जाता

है, जितनी-जितनी स्वरूप-स्थिरता बढ़ती जाती है। स्वरूपस्थिरता बढ़े तब वीतरागता बढ़ती है। वीतरागता बढ़े तब राग का अभाव होता है।

प्रश्न : विकल्प है सो राग है न ?

समाधान :- हाँ ! यानी राग का जहाँ अभाव हो वहाँ रागपूर्वक जो क्रिया होती है उसका भी अभाव होता है। जैसे कि पंचम गुणस्थान में रात्रिभोजन त्याग नाम की प्रतिमा है। पंचम गुणस्थान का यह चारित्र का भेद है। विकल्प ही नहीं उठता। पंचम गुणस्थान में यदि इतनी स्वरूपस्थिरता हुई हो तो साधक को विकल्प नहीं उठता। जब विकल्प ही नहीं उठता तो विकल्पपूर्वक की प्रवृत्ति तो कहाँ से हो ? कि होवे ही नहीं।

'अंतर से स्वानुभूति बढ़े वहाँ देशविरतपना सहज ही आ जाता है। फिर उसे इतने विषय छोड़ना अथवा ऐसा करना, इस प्रकार रुकना नहीं पड़ता।'

मुमुक्षु :- कर्ताबुद्धि का नाश हो जाय।

पूज्य भाईश्री :- कर्ताबुद्धि तो चतुर्थ गुणस्थान से ही नहीं है। लेकिन इतने विषय छोड़ना ऐसा कर्तृत्व नहीं करना पड़ता। कृत्रिमता नहीं करनी पड़ती। विकल्प ही नहीं उत्पन्न होता। जहाँ वीतरागता बढ़े वहाँ विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता, बस !

'यदि बाहर का बाहर ही रुका रहे तो फिर उसे रस नहीं टूटता।' बाहर ही बाहर रुका रहे और बाहर ही बाहर की प्रवृत्ति चालू रखे तो रस नहीं टूटता। 'यह कषाय कम करना अथवा ऐसा करना ऐसे नहीं, परन्तु अपनी ओर झुके वहाँ रस सहज ही टूट जाता है।' अस्ति का कार्य होने पर नास्ति का अभाव हो जाता है। 'वह शुभभावना में आये तब मंद कषाय होते हैं,...' शुभभाव में आया तब मंद कषाय होते हैं। 'परन्तु कषायों का अभाव तो भेदज्ञान की धारा प्रगट हो तथा उपयोग अपनी ओर जाये वहाँ सहज ही हो जाता है।' क्या फर्क बताया ? कि शुभभाव का मंद कषाय अलग बात है और स्वरूप में लीन होकर वीतरागता बढ़े तब जो राग का अभाव हो वह अलग बात है। राग मंद होना एक अलग बात है, (और) राग का अभाव

होना वह दूसरी एक अलग बात है। ऐसे दोनों बात में फर्क करना है।

फिर से 'शुभभावना में आये तब मंद कषाय होते हैं, परन्तु कषायों का अभाव तो भेदज्ञान की धारा प्रगट हो...' भेदज्ञानपूर्वक उपयोग स्वरूप में लीन होवे तब सहज ही (कषाय का अभाव) हो जाता है। यानी मंद कषाय की बात तो अलग ही है।

'सोगानीजीने एक बात ली है कि कोई ऐसी कल्पना करता है, कार्य की पद्धति न समझे तब कल्पना से, कि कषाय को मंद करते-करते (अभाव) कर दूँगा और शास्त्र पढ़-पढ़कर ज्ञान को वृद्धिगत करके केवलज्ञान प्रगट कर लूँगा। दोनों पद्धति गलत हैं। वैसे न तो ज्ञान की वृद्धि होगी नहीं राग का अभाव भी होगा। राग का अभाव भेदज्ञान से होता है, शुभभाव से नहीं। शुभभाव तो राग की मंदता है अभाव नहीं।

मुमुक्षु :- विस्तार से लीजिये।

पूज्य भाईश्री :- जैसे कि शुभभाव से लाभ माननेवाला या राग का अभाव माननेवाला क्या करता है ? बहुत शुभभाव करता है। क्या करता है ? तो वहाँ राग बढ़ता जाता है। शुभराग भी वृद्धिगत होता है राग का अभाव नहीं होता। जब कि भेदज्ञान में राग से भिन्नत्व का पुरुषार्थ करने पर राग का अभाव होता है। शुद्ध उपयोग के प्रगट होने पर राग का अभाव होता है। दोनों भिन्न-भिन्न कार्यपद्धति है पूरी। परन्तु जिसको भेदज्ञान का प्रयोग अंतर में किस तरह करना इसकी सूझ नहीं है उसको ऐसा लगता है कि कषाय मंद करता जाऊँ... कषाय मंद करता जाऊँ... कषाय मंद करता जाऊँ... ये ध्यान में बैठकर भी लोग वही करते हैं। कषाय मंद करने की बात है। भेदज्ञान अलग विषय है। कषाय कितना भी मंद हो, अभाव नहीं होता। हालाँकि भेदज्ञान करने से कषाय का अभाव होगा।

प्रश्न :- भाईश्री ! ज्ञानदशा के बाद का भेदज्ञान और इसके पहले का भेदज्ञान दोनों में फर्क क्या होता है ?

उत्तर :- दोनों में फर्क तो है। ज्ञानदशा में जो भेदज्ञान है वह सहज है। शुद्धोपयोगपूर्वक आत्मा भिन्न

हो गया है। अतः सहज-सहज चलता रहता है। सहजरूप से अटूटपने, निरंतर धारावाहीरूप से चलता है। जबकि ज्ञानदशा के पहले भेदज्ञान का प्रयत्न होता है। अभी भेदज्ञान असल में नहीं हुआ, ज्ञानदशा में होता है वैसे नहीं हुआ। वहाँ इसका प्रयत्न है। यानी कि प्रयत्न करते-करते आगे बढ़ता है। उसे कहते हैं तो भेदज्ञान परन्तु असल में वह भेदज्ञान का प्रयत्न है। वास्तव में भेदज्ञान नहीं हुआ, भेदज्ञान का प्रयत्न चलता है। और उस प्रयत्न में शिथिलता हो, शिथिलपना हो तो कभी होता है तो कभी नहीं होता। कभी काम होता है, कभी प्रयत्न चलता है और कभी-कभार प्रयत्न नहीं चलता। उग्रता होने पर वैसे प्रयत्न धारावाहीरूप से भी चलता है। और धारावाहीरूप से प्रयत्न चलने पर शुद्धोपयोग की उत्पत्ति होती है। शुद्धोपयोग होने के पश्चात् सहज भेदज्ञान की धारा निरंतर चालू रहती है। इसके पहले नहीं।

प्रश्न :- यह धारावाहीरूप से प्रयत्न में जो कहा है, अद्धर (किसी के आधार बिना) से धून चलती है वह धारावाहीरूप से प्रयत्न में आनेपर ही अद्धर से चलती है न ?

उत्तर :- वहाँ तो शुद्धोपयोग के पूर्व अंतिम मिनटों में अद्धर से ही धून चलती है। वह बात 'गुरुदेवश्री' ने 'परमागमसार' के ३०४ वचनामृत में ली है। ३०४। अद्धर से धून चलती है। आखिरकार शुद्धोपयोग होने के पूर्व कैसा प्रयत्न होता है वह विषय चलता है।

प्रश्न :- अद्धर से माने ?

उत्तर :- अद्धर से मतलब विकल्प के अवलंबन बिना, निमित्त के अवलंबन बिना, उसे अद्धर से कहते हैं। इसके पीछे जो बात है वह इसलिये ली है कि आगे-पीछे भी बात की है कि, किस तरह अद्धर से होता है।

'इस वस्तु के लिए प्रयोग करने हेतु अन्तर में - मूल से पुरुषार्थ का उफान आना चाहिए...' ऐसे भाव से 'कि मैं ऐसा महान पदार्थ !' जिसको अपने स्वरूप का भावभासन हुआ है - पहचान हुई है, नमूने पर से, Sample पर से पूरी चीज ज्ञान में आ गई। ज्ञानलक्षण पर से बेहद ज्ञानस्वभाव ज्ञान में आ गया।

उसे अपनी जितनी महानता है उतनी महानता भासित होती है। भासित होती है मतलब Feel होने लगती है। उसका प्रयोग चलता है। और इस प्रयोग में मूलमें से भीतर से पुरुषार्थ के उत्थान पूर्वक प्रयोग चलता है।

‘ऐसे निरावलम्बन रूपसे...’ निरावलम्बनरूप से मतलब उसवक्त सूक्ष्म विकल्प आत्मा के स्वरूप संबंधित चलते हो उसका भी अवलंबन नहीं - उसका भी आधार नहीं। ऐसे विकल्प हो तो मैं आगे बढ़ूँ ऐसे नहीं। विकल्प होने पर भी विकल्प पर दृष्टि नहीं है। वहाँ नजर नहीं है कि कैसे विकल्प हो रहे हैं।

मुमुक्षु :- यानी कि उसवक्त विकल्प भी स्वरूप संबंधित Positive होते हैं देखा जाये तो ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, फिर भी उस पर नजर नहीं है। उसकी नजर तो जो स्वरूप भासित हुआ उस पर है। अतः निरावलम्बनरूप से किसी के आधार बिना यानी कि वर्तमान चल रहे विकल्प के आधार बिना, शास्त्र के आधार बिना, यह शास्त्र पढ़ूँ तो मुझे अनुभव हो, वैसे भी नहीं, ऐसा विकल्प करूँ तो मुझे अनुभव हो, वैसे भी नहीं, बिना किसी के आधार चले उसे अद्वर से कहते हैं। उसे अद्वर से कहा।

‘अन्य के आधार बिना, विचार की धून चलते चलते..’ वह परिणाम की धून में चढ़ गया। आखिर में स्वानुभव के पूर्व स्वरूप की धून उसके परिणाम में होती है। एक ही धून। **‘अन्य के आधार बिना, विचार की धून चलते-चलते ऐसा रस आए...’** किसका ? आत्मा के स्वरूप का, आत्मा के स्वभाव का। ऐसा रस आता है। **‘ऐसा रस आए कि बाह्य व्यापार न सुहावे...’** वहाँ से छूटना गमे ही नहीं।

प्रश्न :- धून जो है वह मन में या बुद्धि में कहाँ चलती है ?

समाधान :- मन में चलती है। बुद्धि का विषय तो इतना नहीं है इसमें, चलता है मन में। परन्तु मन पर दृष्टि नहीं है। विकल्प चलता है, विकल्प पर दृष्टि नहीं है। धून है वह धून है और धून का विषय अपना स्वरूप है, परमात्म स्वरूप है।

प्रश्न :- मन है ?

समाधान :- हाँ, मन तो स्वानुभव के वक्त जाता है। उसके पहले मन नहीं जाता। वहाँतक मन का अवलंबन है और मन का अवलंबन है वहाँतक स्वानुभव नहीं है। स्वानुभूति तो स्वरूप के अवलंबन से प्रगट होती है तब मन का अवलंबन छूट जाता है, वैसे। परन्तु फिर भी यहाँ अद्वर से धून ली इसका अर्थ क्या है ? कि धून का विषय अपना स्वरूप है, परमात्मस्वरूप है इसलिये अद्वर से धून ली।

‘बाह्य व्यापार न सुहावे। यह अभी है तो विकल्प ही...’ क्या कहते हैं ? यहाँ तक **‘अभी तो विकल्प ही, पर ऐसा लगे कि यह मैं...यह मैं...’** जोर, जोर उस पर है। **‘ऐसे घोलन का जोर बढ़ते-बढ़ते...’** रस से घूँटता है। स्वरूपरस घूँटता है जोर-जोर से। ऐसे **‘बढ़ते बढ़ते इन विकल्पों से भी छूटकर अंतर में उतर जाते हैं।’** वह छूट जाता है और परिणाम है सो प्रदेश प्रदेश में फैल जाते हैं। **‘निर्विकल्प होने के पूर्व ऐसी दशा होती है।’** जब विकल्प छूटकर अंदर उतर जाता है तब उसे शुद्धोपयोग व सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। उसी वक्त सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, उसी वक्त स्वरूप की लीनतारूप स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग वहाँ प्रगट हो गया। फिर आगे जायेगा।

यह शुरुआत हुई। अतः शुरुआत होने के पहले, शुरुआत होने से पहले, शुद्धोपयोग होने के पहले ऐसे धूनवाले परिणाम होते हैं। घोलन के, स्वरूपरस के घोलन के परिणाम व स्वरूप की धून चढ़ गई हो ऐसे परिणाम होते हैं। क्यों धून चढ़ गई ? कोई ऐसा पूछे कि क्यों धून चढ़ गई ? तो कहते हैं स्वरूप ही ऐसा है कि धून चढ़ ही जाये। स्वरूप वस्तु ऐसी है कि धून चढ़े बिना रहे नहीं। लक्ष्य में आये, भावभासन में आये तो वैसी धून चढ़े बिना रहे नहीं ऐसी वस्तु है।

मुमुक्षु :- अनन्तकाल का दुःख चला जाये।

पूज्य भाईश्री :- परन्तु जो सुख केवलज्ञान में प्रगट होता है इससे अनन्तगुण का सागर अंदर में भरा है। सुख का सागर अंदर में भरा है। अतः धून चढ़े... चढ़े...

और चढ़े ही।

मुमुक्षु :- वारंवार के प्रयास से यह जो अद्धर से धून चलती हो तो कई बार ऐसा लगे कि किनारे आते-आते बीच में कोई विकल्प आ जाये और वह धून अटक जाये। तब उसे ख्याल आ जायेगा कि किनारे पहुँचते-पहुँचते अटक गया।

पूज्य भाईश्री :- इसमें क्या है कि निर्विकल्प होने से पहले जो धून चढ़ती है उसमें बीच में टूटती नहीं है। वह धून तो लगी सो लगी फिर कुछ पता नहीं रहता। धून में ही चलता है। प्रायः अधिकतर मनुष्य तो ध्यान में ही होते हैं। कोई-कोई जीव, परन्तु तिर्यच कि जिनको ध्यान नहीं होता तो वे ध्यान में ही चलते हैं, वे धून में ही चलते हैं। खाये तब भी धून में, चले तब भी धून में, धूनमें से बाहर निकले ही नहीं। 'गुरुदेवश्री' ने एक पद बनाया था स्वयं ने कि, 'धून रे धूनिया अपनी धून', 'धून रे धूनिया अपनी धून, जामे नहीं पाप और पुण्य।' इसमें पाप-पुण्य कुछ नहीं है धून में। ऐसी धून, धून। ऐसी धून में चढ़ जा।

फिर नीचे लिखते हैं कि, 'इस आत्मा के परमात्मा होने की बात...' है किसको ? आत्मा को परमात्मा बनने की यह बात 'अरबों रुपये देने पर भी सुनने को न मिले ऐसी हैं।' सुनने के लिये हँ ! अरबों रुपये मिले वह पुण्य अलग जाति के और यह बात सुनने मिले वह पुण्य अलग जाति का, ऐसा कहते हैं। अतः रुपयों से मूल्यांकन नहीं हो सकता। लोग पुण्य का नाप रुपयों से करते हैं न ? कि भाई ! इनके बहुत पुण्य हैं इसको बहुत रुपये मिल गये। बहुत पुण्य हैं। तो कहते हैं, नहीं। यह बात ऐसी है कि अरबों के अरबों रुपयों से भी जिसकी तुलना नहीं हो सकती।

'यह परमात्मा की बात पैसे की चीज़ ही नहीं है। इसका पैसों से मूल्यांकन नहीं होता।' कि बाहर की किसी चीज़ से मूल्यांकन नहीं हो सकता ऐसी यह चीज़ है। 'गुरुदेवश्री'ने ३०५ में इतनी बात की है।

अभिप्राय की एक बहुत सुंदर बात की है कि, 'सिर के टुकड़े करनेवालों और कंठ के छेदनेवालों

से भी अपना जितना अहित नहीं होता, उतना अहित अपने विपरीत अभिप्राय से होता है।' यह अभिप्राय पर 'गुरुदेवश्री'ने इतनी बात की है। विपरीत अभिप्राय कितना नुकसान करता है ?

मुमुक्षु :- है न अपना अभिप्राय का (प्रकरण) चलता है न ?

पूज्य भाईश्री :- 'गुरुदेवश्री' कितना कह गये हैं। 'जगत को अपने विपरीत अभिप्राय की भयानकता भासित नहीं होती।' यह ३०६ में लिया है।

मुमुक्षु :- 'कृपालुदेव' ने कहा है न सातवीं तमतमप्रभा नरक की वेदना मंजूर है जगत की मोहिनी सम्मत नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- वहाँ अभिप्राय की भयानकता भासित हुई है। क्या कहा ?

'भेदज्ञान की धारा प्रगट हो तथा उपयोग अपनी ओर जाये वहाँ सहज ही हो जाता है।' अनुभव तो सहजमात्र में हो जाता है। 'उसे दो प्रयत्न नहीं करने पड़ते। एक प्रयत्न में दूसरे का समावेश हो जाता है। जहाँ बाहर का रस टूटे वहाँ अंतर का रस बढ़ जाता है और जहाँ अंतर का रस बढ़े वहाँ बाहर का रस टूट ही जाता है। अलग-अलग दो प्रयत्न नहीं करने पड़ते।' एक तरफ का प्रयत्न होते ही दूसरी तरफ का काम स्वतः हो जाता है। यह १२७ वाँ पूरा हुआ।

मुमुक्षु :- इसके बाद में अच्छा है।

पूज्य भाईश्री :- इसमें ज्ञान और श्रद्धा का प्रश्न पूछा है।

'प्रश्न :- आत्मा-अनुभव नहीं होने में दृष्टि का दोष है या ज्ञान का ?' यानी कि श्रद्धा का दोष है या ज्ञान का दोष है ? एक दोष हो और दूसरा न हो ऐसा तो बनता नहीं। दोष तो दोनों साथ-साथ ही रहते हैं। गुण भी साथ में प्रगट होते हैं, दोष भी साथ ही रहते हैं। परन्तु भिन्नता अनुसार अलग-अलग बात ज्ञानियों करते हैं।

'आत्मा का अनुभव नहीं होता उसमें दृष्टि और ज्ञान दोनों का दोष है।' पहले तो वह बात स्थापित कर दी कि, इसमें श्रद्धा भी भूल में है और ज्ञान भी

भूल में है। इसलिये आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। अनुभव होना मतलब अपने परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार होना उसे यहाँ पर स्वानुभूति कहा है। और इसकी मुख्यता से इस ग्रंथ में चर्चा चली है। इसलिये 'स्वानुभूतिदर्शन' नाम रखा है।

'आत्मा का अनुभव नहीं होता इसमें दृष्टि और ज्ञान दोनों का दोष है। दृष्टि का दोष मुख्य है।' क्योंकि पूरी की पूरी विपरीत परिणमन करती है, दृष्टि पूरी की पूरी उलटी होती है... इसलिये उसका सबसे ज्यादा दोष है। श्रद्धा का दोष बड़ा है। ऐसा कहते हैं। **'दृष्टि का जोर हो तो ज्ञान का जोर हो।'** वह ज्ञानदशा में। सुलटी दृष्टि परिणमन करे तब पूरी की पूरी सुलटी परिणमन करती होने से अनन्त शक्ति से उसका जोर होता है तब दूसरे गुणों का भी जोर बढ़ता है, ज्ञान का जोर भी बढ़ता है।

प्रश्न :- भाईश्री ! ज्ञानदशा के पहले और भावभासन के बाद किसप्रकार का ज्ञान और दृष्टि का किस प्रकार का दोष रह जाता है ?

समाधान :- भावभासन पश्चात् भी दृष्टि तो मिथ्यात्व है। ज्ञान मिथ्या नहीं है किन्तु ज्ञान को सम्यक्ज्ञान नहीं बोला जाता। ज्ञान में तो यथार्थ वस्तुस्वरूप भासित हुआ है इसलिये उपशम के योग्य हो चुका है। यानी कि अल्पकाल में मिथ्यात्व उपशमित हो जायेगा और उपशम सम्यग्दर्शन प्रगट हो जायेगा।

मुमुक्षु :- यह अल्प समय में जो नक्की है अल्प समय का Minimum-Maximum कितना काल होता है ? Minimum तो समयमात्र होता है।

पूज्य भाईश्री :- Maximum काल है छः महीना। भावभासन पश्चात् Maximum काल अति मंद पुरुषार्थ हो तो भी छः महीना। वैसे तो मंद पुरुषार्थों को महीना-दो महीना, तीन महीना लगता है। छः महीना तो Maximum काल है।

मुमुक्षु :- अति मंद पुरुषार्थ में चारित्रमोह कुछ कारण होता होगा ?

पूज्य भाईश्री :- पुरुषार्थ है, यहाँ Stage पुरुषार्थ

का है इसलिये पुरुषार्थ को लेना। क्योंकि चारित्रमोह को मंद तो मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी होकर भी बहुत करता है। अतः यहाँ भावभासन के कारण दर्शनमोह तो पतला हुआ है फिर भी पुरुषार्थ जो वेगवंत होना चाहिये उतना नहीं हुआ।

मुमुक्षु :- उसवक्त जीव को ऐसे कौन से भाव होते हैं कि जिसका ...

पूज्य भाईश्री :- इसमें क्या है कि उदयभावों में अधिक झुका रहता है। जिस पुरुषार्थ से आत्मा को प्रत्यक्ष कर-कर के पुरुषार्थ की उग्रता होनी चाहिये, वैसा प्रकार जितना अधिक करना चाहिये उतना अधिक नहीं होता। कुछ कम मात्रा होती है इसलिये समय बीत जाता है। अतः मिथ्यात्व मंद हो चुका है। ज्ञान यथार्थ हो गया है परन्तु पुरुषार्थ में तीव्रता-मंदता भिन्न-भिन्न जीवों को भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। सब जीवों को एक-सी तीव्रता नहीं होती या मंदता नहीं होती। भिन्न-भिन्न जीवों को भिन्न-भिन्न प्रकार की तीव्रता-मंदता होती है। 'सोगानीजी' को एक दिन लगा। तीव्र, तीव्र पुरुषार्थ में थे।

मुमुक्षु :- स्वयं तो पुरुषार्थ का पिण्ड है।

पूज्य भाईश्री :- अनन्त पुरुषार्थ का पिण्ड तो है परन्तु प्रगट पुरुषार्थ करे उतना कार्य हो। आपके पास मिठाई के भण्डार भरे हो परन्तु पेट में डालोगे उतनी भूख मिटेगी। एक टुकड़ा खाने से इतनी भूख मिटेगी। दो टुकड़े खाने से उतनी भूख मिटेगी। भण्डार भरा हुआ किस कामका ? मिष्टान के भण्डार भरे पड़े हो परन्तु खाये नहीं तो भूखा रहेगा। वैसे पुरुषार्थ नहीं होगा तो कार्य नहीं होगा। आत्मा में भीतर में शक्तिरूप से अनन्त पुरुषार्थ भरा है किन्तु कार्य तो व्यक्ति में होता है। शक्ति का यदि इस्तेमाल न हो तो शक्ति बेकार पड़ी रहती है। शक्ति क्या काम की ? शक्ति का सदुपयोग होना चाहिये।

मुमुक्षु :- यहाँ तो ऐसा होता है कि पर्याय में वेदन आये और वेदन में मीठासपूर्वक दृष्टि का जोर टूट जाये इसके कारण...

पूज्य भाईश्री :- भावभासन पहले वेदन नहीं होता।

मुमुक्षु :- पर्याय में वेदन तो होता ही है न...

पूज्य भाईश्री :- परन्तु उतना नहीं होता। परन्तु खास करके प्रत्यक्ष कर-करके जो पुरुषार्थ को तीव्र करना चाहिये वैसा प्रकार कम होता है।

मुमुक्षु :- मतलब प्रत्यक्ष कर-करके कहा इसमें क्या भाव लेना है ?

पूज्य भाईश्री :- इसमें क्या है कि वस्तु अनंत प्रत्यक्ष है उसे बारम्बार Visualize करे तो पुरुषार्थ उछले।

मुमुक्षु :- Visualize माने क्या ?

पूज्य भाईश्री :- Visualize करना मतलब जैसे आप किसी प्रसंग को देखते हो वैसे। आप कहेंगे मेरी इनके साथ ऐसी बात हुई। अब ऐसी बात हुई तब आप उस प्रसंग को जैसे नज़र समक्ष देख रहे हो इसतरह जैसे बात करना। देखना। Vision नाम देखना। टेलीविज़न नहीं कहते ? उसे Visualization कहते हैं। देखना, देख रहा हो वैसे। वैसे आत्मा का विचार न करे अपितु आत्मा को निदिध्यासन में ले। इसका शास्त्रिय शब्द निदिध्यासन है और अंग्रेजी में उसको Visualization कहते हैं। Visualize करना। देखना-देखना प्रत्यक्ष देखना कि मेरा आत्मा ऐसा है, तब पुरुषार्थ उजागर हो जाता है।

मुमुक्षु :- प्रत्यक्ष देखा न हो उसे Visualize करके प्रत्यक्ष देखने का होता है। प्रत्यक्ष अनुभव में देखा तो नहीं है कभी प्रत्यक्षरूप से...

पूज्य भाईश्री :- अनुभव में नहीं आया किन्तु भावभासन में तो देखा है न !

मुमुक्षु :- भावभासन में लेने पर वेदन से उसको अस्तित्व का ख्याल आता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, वेदन से उसने देखा है। अस्तित्व का ख्याल आया मतलब उसे विचार आया है सो बात नहीं है। प्रत्यक्ष अंश से अनन्त प्रत्यक्ष को Visualize कर लिया है। उसे बारम्बार Visualize करता है। भावभासन में आये स्वयं के परमात्मस्वरूप को बारम्बार Visualize करता है। जितना बारम्बार अधिक करे उतना पुरुषार्थ जोर कर करके भीतर से प्रगट होता है। पुरुषार्थशक्तिमें से व्यक्ति होती है। यह एकमात्र इसका उपाय है। एक ही रीत है, अन्य कोई रीत नहीं है

इसकी कोई दूसरी विधि नहीं है। ऐसा जितना अधिक मात्रा में होगा उतना अनुभव त्वरा से होगा। जितनी इसमें कमी उतना अनुभव देरी से होगा। किन्तु शिथिल पुरुषार्थ हो तो भी डेढ़-दो महीने लगते हैं। छः महीना तो बहुत Maximum limit बताई है।

प्रश्न :- 'कृपालुदेवने जो कहा, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य से अभेद ऐसे आत्मा का एक पल भी विचार करना। इसमें इनका क्या अभिप्राय है ?

समाधान :- इसमें क्या है कि अपने स्वरूप का सँभालना। एक क्षण के लिये भी सँभाल कर लेना थोड़ी। जीव विस्मृत कर जाता है। जीव अपने स्वरूप को विस्मृत कर जाता है, भूल जाता है कि मैं ऐसा हूँ। तो कहते हैं, एक क्षण के लिये भी इसका स्मरण तो कर, इसकी सँभाल तो कर। तो तुझे रस उत्पन्न होगा, तब वह रस तीव्र होगा ऐसा कहते हैं।

(यहाँ कहते हैं) 'दृष्टि का जोर हो तो ज्ञान का जोर हो' मोक्षमार्ग में श्रद्धा का जोर बढ़ने से आनुसंगिक दूसरे गुण भी विकसीत होते हैं। इसमें ज्ञान भी है। 'दृष्टि सम्यक् हो तो ज्ञान भी सम्यक् होता है।' और अनन्त गुण भी सम्यक् होते हैं। 'दृष्टि और ज्ञान दोनों में विपरीतता है।' मिथ्यात्व की दशा में, संसारदशा में, दृष्टि व ज्ञान दोनों में विपरीतता है, फिर भी दृष्टि की मुख्यता है। क्योंकि अनन्त शक्तिपूर्वक वह उलटी परिणमन कर रही है। सुलटी हो तो भी अनन्त शक्ति, उलटी हो तब भी अनन्तशक्ति। 'यदि दृष्टि बदले तो ज्ञान बदल ही जाता है।'

मुमुक्षु :- वहाँ अभिप्राय आया न ? प्रथम अभिप्राय पलटना चाहिये न ?

पूज्य भाईश्री :- फिर, इतना कहने के पश्चात् प्रथम भूमिका की बात करते हैं। यह ऊपर की भूमिका की बात की।

'प्रथम भूमिका में ज्ञान, सच्चे विचार आदि सब आते हैं,...' अतः प्रथम भूमिका में ज्ञान की प्रधानता है, ज्ञान साधन है, ज्ञान प्रधान साधन है क्योंकि दृष्टि विपरीत है साधन कहाँ से बनाये ? 'प्रथम भूमिका में सच्चा

ज्ञान, सच्चे विचार आदि सब आते हैं। परन्तु मोक्षमार्ग में सर्वप्रथम दृष्टि है। मोक्षमार्ग में तो दृष्टि की प्रधानता है। दृष्टि के बल से साधक आगे बढ़ता है। ज्ञान में कमी हो इसका हरजा नहीं है।

'दृष्टि के साथ ज्ञान होता है।' दृष्टि के साथ ज्ञान जुड़ जाता है। **'दृष्टि सम्यक् हो, वहाँ ज्ञान सम्यक् हो जाता है।'** वैसे तो अनन्त गुण सम्यक् हो जाते हैं। अभेद पदार्थ होने से जैसे दृष्टि सम्यक् हुई, श्रद्धा सम्यक् हुई कि सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व - सारे गुण सम्यक् हो जाते हैं। **'गुरुदेव ने इतना स्पष्ट किया है कि कोई भूल न हो।'** इतनी सारी बातें करने के बाद पूरा श्रेय 'गुरुदेवश्री' को देते हैं। ये सारी जितनी भी बात कही उन सब में मूलभूत बात 'गुरुदेवश्री' की है। हम तो उनकी बात कहते हैं।

मुमुक्षु :- 'कृपालुदेव' ने 'मूलमार्ग...' में अलग प्रकार से लिया। 'हवे ज्ञान-दर्शनादि शब्दो रे, संक्षेप सुणो परमार्थ, तेने जोता विचारी विशेषथी रे समझाशे उत्तम आत्मार्थ, छे देहादि थी भिन्न आत्मा रे, उपयोगी सदा अविनाश एम जाणे सदगुरु उपदेशथी रे, कह्युं ज्ञान तेनुं नाम खास। जे ज्ञाने करीने जाणियु रे, तेनी वर्त छे शुद्ध प्रतीत, कह्युं भगवंते दर्शन तेहने रे, जेनुं बीजुं नाम समकित' (मूलमार्ग सांभळो काव्य पद ५-६-७)

पूज्य भाईश्री :- पहले क्या कहा कि 'ज्ञाने करीने जाणियु' यानी कि ज्ञानपूर्वक श्रद्धान है। प्रथम भूमिका में सच्चा ज्ञान, सच्चे विचार आदि आता है।

मुमुक्षु :- यहाँ तो ज्ञान को थोड़ा हलका कर दिया और श्रद्धा को मुख्य की है इसलिये मुझे ऐसा कहना पड़ा।

पूज्य भाईश्री :- कभी ज्ञान को मुख्य किया जाता है, मुमुक्षु की भूमिका में ज्ञान को मुख्य किया जाता है।

मुमुक्षु :- सदगुरु का उपदेश, समकित धर्मात्मा का उपदेश...

पूज्य भाईश्री :- हाँ परन्तु वह ज्ञान में आता है न ? उपदेश तो ज्ञान से समझ में आता है न ? अतः इसमें ज्ञान की प्रधानता है। और मोक्षमार्ग में श्रद्धा अनन्त

शक्ति से परिणमन करती है इसलिये वहाँ श्रद्धा की प्रधानता है। इसतरह दोनों बात भिन्न-भिन्न हैं। दोनों भूमिका की बात भिन्न-भिन्न है।

इसलिये क्या है कि, जब भी कोई ज्ञानी हो या मुमुक्षु हो वे जब ऐसी बात करते हैं तब उन्हें अपने गुरु का स्मरण आये बिना नहीं रहता। और गुरु का उपकार उन्हें दिखे बिना नहीं रहता। क्योंकि इसके पहले जो खुद की दशा थी उसका ख्याल होता है कि मैं कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे गलती करता था, भूल करता था, कैसे-कैसे भटकता था, रूलता था और मेरा कुछ मेल नहीं खाता था। ये गुरु के समझाने के बाद मेरी गाड़ी पटरी पर आयी है। अतः दूसरे को समझाते समय उसे अपने गुरु का स्मरण आता है। अपने गुरु के उपकार का स्मरण आता है कि यह इन्होंने समझाया है।

'जो भी अटकता है वह अपनी भूल से अटकता है।' समझानेवाले समझाते हैं, अटकनेवाला अपनी भूल से अटकता है। कहते हैं कुछ और समझता है कुछ और। फिर तो भूल होवे ही न। एक बहुत हास्यास्पद दृष्टांत 'गुरुदेवश्री' देते थे। किसीने ऐसा कहा, लालटेन जलाईये। तो सुनकर डाला अग्नि में। 'फानस सलगावो कह्युं, नाख्युं भडका माहि।'

मुमुक्षु :- सास ने बहु को कहा।

पूज्य भाईश्री :- सास ने बहु को कहा कि लालटेन जलाईये ! शाम हो चुकी है। तो चूले में अग्नि था उसमें लालटेन फेंक दिया। क्यों ? कि आप, माँ ने कहा कि जलाईये तो मैंने जलाने के लिये डाल दिया अग्नि में। अरे ! ऐसे नहीं उसकी बाती को जलाने की बात थी। बाती जलाने को नहीं कहकर लालटेन जलाने को कहा था। लालटेन जलाओ मतलब कि उसमें जो बाती है उसे जलानी थी इसके बजाय पूरा लालटेन अग्नि में डाल दिया। इसतरह लालटेन जलाने में कहना चाहते हैं कुछ और व समझते हैं कुछ और इसके जैसा हो गया। यानी भूल होती है अपनी भूल से भूलता है। बात तो बात की तरह होती है। व्यवहार से भी होती है और निश्चय से भी होती है। समझने की जिम्मेवारी उसकी

खुद की है। सही समझना, यथार्थ समझना इसकी जिम्मेदारी खुद की है।

समझानेवाला तो बहुत कुछ समझाये परन्तु खुद न समझे और अपनी रीति को छोड़े नहीं तो क्या हो ? उलटी रीत पकड़ने से तो क्या होगा ? वरना तो कितनी हद तक समझाया जाता है ? कि यह बात तेरे आत्मा की है। तेरे आत्मा को लक्ष्य में रखकर मुख्य रखकर तेरे आत्मा में लागू करके इस बात को समझ। क्या कहते हैं ? बात को तेरे आत्मा में लागू करके समझ। अब इसके बजाय यूँ ही समझने जाये तो एक के बजाय दूसरा ही समझेगा न ? परलक्ष से समझेगा तो क्या समझेगा ? अन्यथा ही समझेगा। कहा वह नहीं समझकर दूसरा ही समझेगा।

अतः यहाँ पहली शर्त यह है। Subject to condition समझने बैठा हो उसके लिये भी पहली शर्त यह है कि इस शर्त से तुझे समझना है। स्वलक्ष से समझ। तू अपने आपको लक्ष में लेकर समझ। दूसरी तरह समझा यानी कि किसी और को लक्ष में लेकर परलक्ष से समझेगा तो तब तेरा तू चूक जायेगा। या तो यह बात तुझे अन्यथा समझ में आ जायेगी। सही ढंग से समझ में नहीं आयेगी। इसलिये शर्त रखी है उन्होंने। इसतरह परलक्ष से समझने की उलटी पद्धति है उसे छोड़ देनी चाहिये। तभी समझ का फल यथार्थ आयेगा।

यह दृष्टि-ज्ञान की भी चर्चा चली है। भूल इसलिये होती है क्योंकि शास्त्रकारों ने कहीं पर दृष्टि की प्रधानतासे बातें की हैं, कहीं पर ज्ञान की प्रधानता से बातें की हैं। मुमुक्षु की भूमिका में प्रधान साधन ज्ञान है। दृष्टि मिथ्या है परन्तु वह मंद होती जाती है। यदि ज्ञान यथार्थ सच्चा हो, समझ सही हो, ज्ञान का विवेक सच्चा प्रगटे, ज्ञान का उलटा अभिप्राय पलटकर सुलटा हो जाये तो मिथ्यात्व मंद हो जाये। और मोक्षमार्ग शुरू हो तब श्रद्धा अनन्त शक्ति से परिणमन करती होने से जब कि ज्ञान और अन्य गुण अधूरी शक्ति से परिणमन करते हैं अतः (वहाँ) दृष्टि की प्रधानता है। अतः वहाँ साधन दृष्टि को कहकर उसकी मुख्यता में भी बातें की हैं। वे तो मोक्षमार्ग

की हुई। मुमुक्षु में ज्ञान की प्रधानता है। इसतरह परिस्थिति बदलती है ऐसा समझ में लेना। वरना एक की जगह दूसरा समझ में आ जायेगा ऐसा नहीं होना चाहिये।

कई लोग ऐसा कर लेते हैं। दृष्टि प्रधानता से की गई बातें जोरदार होती हैं। कैसी ? क्योंकि दृष्टि तो केवलज्ञान को (भी) विषय नहीं करती। और दृष्टि को वाचा देवे तो कहेगी कि, मुझे केवलज्ञान नहीं चाहिये। मुझे मोक्ष नहीं चाहिये। क्यों ? दृष्टि उसे विषय ही नहीं करती फिर माँगे तो कैसे ? उसे देखती तक नहीं। अब ऐसी जोरदार बातें आने पर कइयों को ऐसी बातों का रस चढ़ जावे। किसका ? बातों का। दृष्टि का रस नहीं बातों का रस चढ़ जाता है जबकि बातें तो शब्द हैं, पुद्गलात्मक है। पुद्गल का रस चढ़ जाता है, जड़ का। वाणी तो जड़ है न ? इसके रस में चढ़ जाते हैं। और मुमुक्षु की भूमिका में ज्ञान की, विवेक की प्रधानता होती है वह छूट जाती है। गड़बड़ी हो जाती है। ऐसा नहीं होना चाहिये।

मुमुक्षु :- गड़बड़ी मतलब कितनी बड़ी गड़बड़ी ?
पूज्य भाईश्री :- हाँ, होती ही है न ! निश्चयाभासी हो जाते हैं। केसा हो जाता है ? निश्चयाभासी हो जाता है। गुरु को कह देगा तुम परद्रव्य हो। भगवान को कहेगा तू परद्रव्य हो। मैं तो अपने आत्मा को नमन करूँगा, तुझे प्रणाम नहीं करूँगा। ऐसा-ऐसा बोलने लगता है। इसे उन्मत प्रलापता कहते हैं। उसे उन्मत प्रलापता कहते हैं। जैसे कोई आदमी पागल हो जाये और अनाप-सनाप बोलने लगे वैसे ऐसा आदमी भी निश्चयाभासी, जैसे-तैसे कुछ भी बोलने लग जाता है। इसलिये बात ऐसी नहीं लेनी है। विवेक से, विचार से आत्मा के सद्गुण कैसे प्रगट हो, इसका यह विज्ञान है, इसका Science है, इसका गणित है, इसका Logic है।

मुमुक्षु :- इसलिए सतत प्रयत्न बतलाया है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यहाँ तक रखते हैं।

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-१८ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.२७-७-१९९१

‘आत्मार्थी... धर्मस्नेह !

पत्र एक आज दिन आपने किसीके मार्फत भिजवाया था... सोनगढ़से कोई मुमुक्षु कलकत्ता जानेवाले होंगे तो उनके साथ पत्र भिजवाया होगा, ‘सो मिला है, पहले भी अजमेरमें मिला था। कई कारणोंसे जवाब लिखनेकी वृत्ति रुक गई, व अब भी पत्रादिक लिखनेको मन नहीं करता है।’ (अर्थात्) कुछएक कारणवश अभी भी पत्र लिखनेका मन नहीं होता। ‘हमारी तरफके आपको विकल्प होते हैं; परंतु विकल्पोंमें तो जागृति सदा हेय होनी चाहिए,...’ प्रासंगिक (लिखा) है। पत्र लिखनेवालेको विकल्प आता है (इसलिए यों कहते हैं कि) आपको मेरी तरफका विकल्प आता है इसलिए आप पत्र लिखते हो; आपके विकल्पको और आपके पत्रको देखकर ऐसा लगता है कि आपकी उस कार्यमें सावधानी है - जागृति है। जितनी जागृति और सावधानी आपकी अपने प्रति होनी चाहिए, जो नहीं है परंतु मेरे प्रति आपकी सावधानी है, परंतु ‘विकल्पोंमें तो जागृति सदा हेय होनी चाहिए,...’ (अर्थात्) स्वरूपमें जागृति होनी चाहिए कि जिससे विकल्प हेय हो जाये। ऐसा उलटा-सुलटा आता है।

मुमुक्षु :- ऐसे विकल्प भी हेय हो जाते हैं ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अपने स्वरूपकी जागृति ऐसी होनी चाहिए कि विकल्पका स्थान हेयकी जगह आये, हेयताको प्राप्त हो।

मुमुक्षु :- जैसे कृपालुदेवकी पत्र लिखनेकी वृत्ति अटक गई थी वैसी ही इनकी दशा भी पत्रमें आयी है !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, (ऐसी ही दशा) हो गई है। परप्रत्ययी खिँचाव उतना कम होना चाहिए कि, प्रवृत्ति करनेमें बोझा लगे, उत्साह आनेके बजाय बोझा लगे। सावधानी हो तो उत्साह आता है, वरना बोझा लगता है।

(आगे लिखते हैं) ‘चाहे वह साक्षात् तीर्थकरके प्रति ही क्यों न होवे।’ (अभी) विकल्प तो आप मेरे प्रति करते हो, परंतु साक्षात् तीर्थकरके प्रतिका विकल्प क्यों न हो ? विकल्पमें



जागृति नहीं होनी चाहिए। ‘निजद्रव्यमें अस्तित्वका निरंतर श्रद्धान व सहज अनुभव रहनेसे, सहज ही विकल्प टूटने लग जाते हैं व सहज निर्विकल्प स्वाद आने लगता है, जिसके आस्वादन किये बाद विकल्पोंका रस सहज ही टंडा पड़ने लग जाता है।’ विकल्पोंका रस किस प्रकार टंडा पड़ता है या किस तरह विकल्प प्रत्ययी जागृति कम हो, ये बात की है। यहाँसे तत्त्वज्ञान लिया है कि, ‘निजद्रव्यमें अस्तित्वका निरंतर श्रद्धान...’ (अर्थात्) अपने स्वरूप अस्तित्वका निरंतर श्रद्धान - श्रद्धाका विषय अस्तित्वग्रहण है। ‘व सहज अनुभव रहनेसे,...’ (अर्थात्) अविनाभावीरूपसे अनुभव साथमें रहता है। श्रद्धाके साथ सहज अनुभव रहता है। ‘व सहज अनुभव रहनेसे,...’ (यानी कि) ऐसे दो प्रकारके परिणाम रहनेसे, ‘सहज ही विकल्प टूटने लग जाते हैं...’ (अर्थात्) चारित्रगुणकी पर्यायमें जो विकल्प है उसकी टूटनेकी स्थिति आती है। ‘व सहज निर्विकल्प स्वाद आने लगता है, जिसके आस्वादन किये बाद विकल्पोंका रस सहज ही टंडा पड़ने लग जाता है।’ और जैसे ही अपने निर्विकल्प स्वरूपका स्वाद आया, अनुभव आया कि इससे विरुद्ध ऐसा जो विकल्प, उसका रस तो सहज ही टंडा पड़ने लगता है। उसमें फिर रस नहीं आता। ‘विकल्पोंका रस सहज ही टंडा पड़ने लग जाता है।’ रस टंडा होते ही विकल्प अपने आप पतले होते-होते कम होने लगते हैं। ज्ञानी क्यों

प्रवृत्तिमेंसे निवृत्तिमें आते हैं, ये उनकी अंदरकी Line से विचार किया जाये तो ये परिस्थिति है। ज्ञानी भी निवृत्ति लेते हैं न ! और दूसरे जीव भी निवृत्ति लेते हैं। क्योंकि जब ज्ञानी निवृत्ति लेते हैं तो हमें भी लेनी चाहिए। (परंतु) ऐसा नहीं है। उनको (ज्ञानीको) निवृत्तिमें आनेका कारण यह है कि उन्हें विकल्पोंका रस टंडा पड़ गया है। अतः प्रवृत्तिमें उन्हें रस नहीं आता। इसलिए प्रवृत्तिके जो विकल्प हैं वे उन्हें दुःखदायी भासित होते हैं अतः उन्हें छोड़नेकी वृत्ति रहती है। वृत्तिका प्रकार छोड़नेका रहता है। फिर बादमें सहज ही ऐसा योग आये तो छूट जाती है। बाहरमें ऐसा ही योग आता है। (स्वयं) कर्ता-हर्ता नहीं होते, परंतु ऐसा ही कोई पुण्ययोग, भावनाके साथ कुदरत बंधी हुई है इसलिए निवृत्ति योग आता है। और जब निवृत्तियोग आता है तब देशचारित्र अथवा सर्व (सकल) चारित्र अंगीकार करते हैं। निवृत्ति लेना अच्छा है लेकिन अगर इसका सदुपयोग किया जाये तो। जीव यदि प्रवृत्तिसे निवृत्त होकर इसका सदुपयोग न करे तो शायद सांसारिक प्रवृत्तिमें जितना नुकसान नहीं करता, इससे अधिक नुकसान कर बैठे तो इसमें आश्चर्य नहीं ! निवृत्तिवालेको खास करके यह एक (बात)का जोखिम व जिम्मेवारीकी गंभीरता समझकर विचार करने योग्य है। जो-जो मुमुक्षुने अपनी प्रवृत्ति छोड़कर निवृत्ति ली हो उसे यह खास विचार करने योग्य है कि, अगर इस (निवृत्ति)में हमारे परिणामकी गति स्वरूप लाभके प्रति चालू न हुई तो कहीं न कहीं दूसरे प्रकारसे फँसना व नुकसान होना अनिवार्य हो जायेगा। अतः आत्महितके लक्ष्यसे निवृत्ति ली जाये तो मुमुक्षुतामें भी उपकारी है। जबकि ज्ञानीको तो निर्विकल्पपरसके आस्वादनके कारण विकल्पका रस नहीं सुहाता है इसलिए वे सहज निवृत्तिमें आते हैं।

'हमारा तो मन निज चैतन्यबिबके अलावा अब कहीं नहीं जाना चाहता।' अतः हुआ यों कि

शुरूआतमें जब खुद सोनगढ़ छोड़कर आये तब जो सोनगढ़के विकल्प रहते थे वह कम हो गये। सितंबरका यह पत्र है, ९ सितंबर १९५५के पत्र परसे ऐसा लगता है कि अब उनका सोनगढ़ आनेका विकल्प जोर नहीं करता है। खुदने जब देखा कि, कुदरतकी परिस्थिति कोई ऐसी है कि, (सोनगढ़) जानेका योग कोई बैठेगा, ऐसा नहीं लगता। आर्थिक परिस्थिति ऐसी है, कुटुंबकी परिस्थिति कोई ऐसी है कि, कुटुंब बहुत बड़ा था - चार लड़के, चार लड़कियाँ - आठ (और वे और उनकी धर्मपत्नी) इसप्रकार परिवार (बड़ा था), और आर्थिक स्थिति कमजोर थी। अतः देख लिया कि इसमें दूसरा कोई खर्च करना, ये नामुमकिन है। ये देखकर खुद अंतर साधनामें इतने जोरसे आये हैं कि, परिणति बहुत जम गई थी। परिणतिको देखे तो हृदयसे बहुमानका उछाला आ जाये, उछल पड़े !! ऐसी उनकी परिणति जम गई थी। ये इधरसे मालूम पड़ता है - इस पत्र परसे (दिखता) है कि, विकल्पोंका रस स्वरूपके आस्वादनके आगे टंडा पड़ता जाता है, स्वरूप श्रद्धान और स्वरूप अनुभवसे विकल्प टूटते जाते हैं। स्वरूपका सहज निर्विकल्प आस्वाद है वह विकल्पोंके रसको सहज-सहज टंडा करता रहता है। **'हमारा तो मन निज चैतन्यबिबके अलावा अब कहीं नहीं जाना चाहता।'** अब तो यहीं जमे रहो ! अब कहीं नहीं जाना है। **'हमारा तो मन निज चैतन्यबिबके अलावा अब कहीं नहीं जाना चाहता।'** अब खुद इस परिस्थितिमें आ गये हैं क्योंकि बाहरकी परिस्थितिका खयाल आ गया। फिर उन्हें कोई कर्ता-हर्ता होनेका जोर तो आ नहीं सकता, जिसे कर्ता-हर्ता होना हो उसे जोर आता है, जिसको संयोगोंका कर्ता-हर्ता होना ही नहीं, उसे तो जोर आ ही नहीं सकता, क्योंकि सहज उदयका ज्ञान कर लेते हैं कि अभी इसप्रकारका उदय चल रहा है या इसमें इतनी शक्यता है, इतनी अशक्यता है, जब अशक्यको शक्य

करना मेरा काम ही नहीं तो फिर मैं अंदरमें ही क्यों न उतर जाऊँ ? वहाँ - बाहरमें जोर करनेके बजाय मैं अंदरमें ही न उतर जाऊँ ? बस ! सीधी-सी बात है ! इस जोरका उपयोग अंदरमें जानेके लिए ही क्यों न करूँ ! ऐसा (कहते हैं) इसलिए ऐसा कहते हैं कि 'अब...' 'अब' शब्द इस्तेमाल किया है। अब हमारा मन निजचैतन्यबिंबके अलावा कहीं जाना नहीं चाहता। अब तो मनमें ऐसा रहता है कि, इस निजचैतन्यबिंबमें ही ठहरके जम जाऊँ ! अब जब ठहरते ही हैं, ठहर सकते हैं और अच्छी तरह ठहर सकते हैं, फिर क्यों न अब अंदर ही रह जावे ? ये उन्होंने, एक तो गुरुदेवके सत्संगका वियोग था दूसरा व्यवहारमें कुटुंब-परिवार और व्यापारका संयोग था फिर भी - दोनों प्रकारकी बाह्य प्रतिकूलता थी फिर भी अंदरमें अनुकूलता बना ली। इसी प्रतिकूलताको उन्होंने भीतरमें अनुकूलता बना ली ! (इसप्रकार उन्होंने) बहुत काम किया है !! इन बरसोंमें यानी कि १९५५ से १९५९ तक उन्होंने बहुत काम किया है !!

पहलेसे ही उन्होंने ऐसा लिखा है कि, आपका एक पत्र अजमेर मिला था, अभी भी यह कोई सोनगढ़से कलकत्ता आया है उनके (द्वारा) मिला है, परंतु यहाँ कुछएक कारणोंकी वजहसे लिखनेकी वृत्ति ही अटक गई है। इसका कारण यह है कि, उन्होंने अपने (अंदरमें) जो जमावट की है उस (बातको) खोलते नहीं हैं। परंतु कुछ कारणवश मेरी पत्र लिखनेकी वृत्ति अटक गई है (ऐसा लिखते हैं)। श्रीमद्जी लिखते हैं न कि, लिखा हुआ पत्र पड़ा रहता है ! पहुँच लिखनेका भी विचार नहीं आता है, मन नहीं होता, क्या (लिखते हैं) ? अंदरमें परिणति ऐसी चलती है कि, प्रवृत्तिका इतना बोझ लगता है ! थोड़ी प्रवृत्तिका भी इतना बोझ लगता है। कोई तर्क करे कि, वे तो दुकान पर जाकर बैठते थे ! (तो इसका जवाब ऐसा है कि,) उनको

दुकान पर जाना पड़ता था लेकिन इसके सामने निर्जरा कितनी करते थे ! यह एक गहन विषय है !! साधारण जीव समझ न पाये इतना गहन विषय है !! कैसे उदयको भोगते हैं !! ज्ञानीपुरुष उदयका वेदन करते हैं, माने क्या ? अगर ये बात समझमें आ जाये तो ज्ञानीपना समझमें आ जाये और (एकबार) ज्ञानीपना समझमें आ जाये तो दुबारा ज्ञानीपना समझना न पड़े । बादमें ही आत्मा समझमें आता है !! ऐसा यह विषय है।

अतः (यहाँ) लिखते हैं कि, पत्र लिखनेकी वृत्ति छूट गई है। और अभी भी पत्र लिखनेका मन नहीं होता है। (भले ही) पत्र लिखता हूँ परंतु मन नहीं होता। चौदह महीनेके बाद आपको पत्र लिखता हूँ (परंतु) अब मन नहीं होता है। क्योंकि स्वरूप श्रद्धान, अनुभव और ये रसास्वादन चलता है, (अतः) अब तो इस निज चैतन्यबिंबको छोड़कर इसके अलावा कहीं भी हमारा मन जाना नहीं चाहता। अंदरमें जम जाये (ऐसा ही होता है)।

मुमुक्षु :- ज्ञानियोंका ऐसा उग्र पुरुषार्थ नमन करने योग्य है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, विशेषरूपसे नमन करने योग्य है। ज्ञानीका पुरुषार्थ तो जिसे पुरुषार्थ प्रगट करना हो उसके लिए तो नमन करने योग्य है, आदर करने योग्य है, विनय करने योग्य है। ज्ञानी दूसरे ज्ञानीको वंदन क्यों करते हैं ? उनका पुरुषार्थ देखकर वंदन करते हैं ! गुरुदेवने क्यों वंदन किया ? (वरना सोगानीजी) तो उनके शिष्य थे। पत्रमें तो भक्ति करते हैं, क्या नहीं मालूम है उन्हें ? क्या उन्होंने पत्र नहीं पढ़े थे ? पत्र तो पढ़े हैं फिर ऐसा क्यों कहा ? (उनका) पुरुषार्थ देखा है, और कुछ नहीं। पुरुषार्थ देखकर तो ज्ञानी वंदन करते हैं ! (तो) मुमुक्षु (वंदन) करे इसमें क्या बड़ी बात है ?

'हमारा तो मन निज चैतन्यबिंबके अलावा अब कहीं नहीं जाना चाहता। लौकिक दृष्टिसे एक-

डेढ़ वर्षसे अधिकका समय तीव्र असाताकी दशाओंमें रहा,...' यानी कि क्या है कि, बाहरमें प्रतिकूलता बढ़ी तो अंदरमें पुरुषार्थ बढ़ाया है। ये एक सहज परिस्थिति होती है। बाहरमें प्रतिकूलताका उदय बढ़े कि, अंदरसे पुरुषार्थ जोरपूर्वक बाहर आये ! 'अतः इस कारणसे भी पत्रादिककी वृत्ति ओछी रही। अतः एक कारण ये भी साथमें रहा है कि (जिस कारणसे) उनको पत्र लिखनेकी वृत्ति सहज नहीं आती। क्योंकि उसवक्त पुरुषार्थपूर्वक सामना करनेके लिए सारे परिणाम जो (स्वरूपमें) केन्द्रित होते हैं, इस कार्यके बीच पत्रादि लिखना यह एक बड़ा विक्षेप लगता है। वास्तविक परिस्थिति ऐसी उत्पन्न हो आती है कि, जब कोई ज्ञानीको पूर्वकर्मके उदयवशात् बाहरमें प्रतिकूलताएँ - असाता, निर्धनता और दूसरे-दूसरे अनेक प्रकार भी खड़े होते हो, अनेक प्रकारकी - कोई न कोई प्रतिकूलताओंके प्रकार उत्पन्न होते हो, तब भिन्न ऐसी परिणतिमें विशेष उग्रता आती है। भिन्न तो हुए ही हैं, परंतु उसमें विशेष उग्रता आती है। और जहाँ-जहाँ उन्हें जुड़ना पड़ता है वहाँ विशेष-विशेष पुरुषार्थपूर्वक वे उदयको वेदते हैं - भिन्न पड़ते हैं। वेदते हैं अर्थात् भिन्न पड़ते हैं। क्योंकि विशेष पुरुषार्थ करने पर ही भिन्न हो सकते हैं। वहाँ (वैसे उदय प्रसंगमें) वर्तमान पुरुषार्थ उतनी ही मात्रामें रहे तो भिन्न नहीं हो सकते (और) वे प्रतिकूलताके असरमें आ जायेंगे। (लेकिन) ज्ञानी प्रतिकूलताके असरमें नहीं आते। और इसका कारण उनका उस वक्तका विशेष पुरुषार्थ है। उस वक्त विशेष पुरुषार्थ करनेके लिए, वे सभी परिणामोंको उस विषयमें केन्द्रित करते वक्त सब कुछ गौण कर देते हैं। पत्र लिखना, दूसरा-तीसरा सब गौण कर देते हैं। अतः उस वक्त ये सब - पत्र लिखना, जवाब देना (इन सबमें) कहीं मन नहीं लगता। वह विक्षेप-सा लगता है। उनको जो निजकार्य करना है न ! उसमें विक्षेप पड़ता है। इसलिए ऐसा

(लिखते) हैं।

'हमारी तो यह ही इच्छा है कि आपके विकल्प भी और कहीं इधर-उधर न जाकर अपनी निज चैतन्यप्रतिमाको घड़ने लग जायें,...' (अर्थात्) अंदरमें जो निज चैतन्यप्रतिमा है उसे जैसे पत्थरमेंसे टाँकीसे खुदाई करके पूरी प्रतिमा प्रगट करते हैं, वैसे सामर्थ्यमेंसे आराधन करके पूरी प्रतिमा पर्यायमें प्रगट करो ! देखो ! कैसी भाषा आयी है ! आपके विकल्प अन्यत्र नहीं जाकर निज चैतन्यप्रतिमाको घड़ने लग जाये तो अच्छा है ! 'तो वस्तुका आश्रय होते ही अपूर्वता प्रगट होवे...' (अर्थात्) वस्तुका आश्रय होते ही आपको भी अपूर्वता प्रगट होगी। 'व हमारी तरफके निरर्थक विकल्पोंका अंत हो जाये।' यानी कि, हमारे प्रतिका आपका विकल्प तो निरर्थक है, वह कोई सार्थक नहीं। हमारा तो सहज योग हो गया तो आ जायेंगे, सहजरूपसे योग न हुआ तो (नहीं आयेंगे)। कितने समय तक नहीं आ पायेंगे, यह कुछ नहीं कह सकते। अतः यह जो ढीला छोड़ दिया है उसमें (सोनगढ़ आनेमें) कई बरसों गुजर गये।

'हमारा पत्र आदि न मिले तो कोई खयाल नहीं करना चाहिए। श्रीमद्जी जैसा लिखते हैं वैसा ही हुआ है। हमारा पत्र मिले, न मिले, देरसे मिले तो आप कोई विकल्प मत करना। 'हमारी वहाँ आनेकी जिज्ञासा काफी है, अभी योग्यता नहीं है, आने पर स्पष्ट कर सकेंगे।' ये बातें रूबरूम करेंगे, वहाँ आनेकी मेरी भावना खतम हो गई है, ऐसा नहीं है। इधर जिज्ञासा माने भावना। भावना तो है लेकिन अभी (वहाँ आनेकी) योग्यता नहीं दिखती है अर्थात् परिस्थिति नहीं दिखती है। परिस्थिति है सो निमित्तप्रधान बात है (और) योग्यता है वह उपादानप्रधान बात है। जिस परिस्थितिमें रहना पड़ता है, उस परिस्थितिमें रहनेकी योग्यता है इसलिए रहना पड़ता है। ऐसा कहते हैं।

'श्री गुरुदेवका प्रसाद दैनिक यहाँ आता है।
'सद्गुरु प्रवचन प्रसाद दैनिक आता है। 'उनका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक होगा।' उसमें गुरुदेवके स्वास्थ्य आदिके समाचार भी बराबर आते रहते थे।

मुमुक्षु :- उस जमानेमें कलकत्तासे सोनगढ़ आनेके लिए कितने पैसे लगते होंगे ? आने-जानेका सौ-डेढ़सौ रुपया लगता होगा। इतनी भी व्यवस्था नहीं है। तो क्या इतनी दिक्कत होगी ?

पूज्य भाईश्री :- सेनेटोरियममें रहते थे, ये क्या सूचित करता है ? होटलमें तो किराया देना पड़े। धर्मशालामें, सेनेटोरियममें इतना खर्च नहीं लगता है। इसका अर्थ क्या हुआ ? कि खर्च करनेकी व्यवस्था नहीं थी। (साथ ही) अंदरमें परिणामकी पुकार कैसी थी ? कि 'इस सत्तर लाखकी आबादीमें मैं अकेला ही सुखी हूँ !' उन दिनों कलकत्ताकी आबादी सत्तर लाखकी थी। तो कहते हैं कि, मैं अकेला ही सुखी हूँ। ऐसी (बात)

है। ज्ञानीको संयोगाश्रित निर्धनता-सधनतामें सुख-दुखका हिसाब-किताब नहीं होता।

मुमुक्षु :- किसीको स्टेशन छोड़ने जाना हो या दूसरे कामसे गये हो तो कलकत्ताके स्टेशनसे चलकर घर आ जाते।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, चलते हुए आ जाते। हावड़ासे रिकशा करके नहीं लौटते थे वरना वहाँ तो बिहारी लोगोंकी हाथ रिकशा सस्तेमें मिलती है। ट्राममें एक आना लगता था (फिर भी) चलकर घर लौटते थे। न तो ट्राममें बैठते थे न रिकशामें बैठते। हमें तो बाहरका कितना साधन - सहूलियत - अनुकूलता मिले तब धर्म करना है, यह विचार करने जैसा विषय है। कोई प्रतिकूलता व उपाधि न हो तो हम (धर्म) करें वरना कैसे करें ? ऐसा कहेंगे, कि अभी उपाधि है, क्या विचार करें ? अभी उपाधि है इसलिए अभी नहीं होगा। यह रुचिका अभाव सूचित करता है।

(पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा)

अपने को बाहर की महिमा है; बाहर की एकत्वबुद्धि है; इसलिये उपयोग स्थूल हो गया है।

बाह्य में उसे कहीं अच्छा न लगे, कहीं न रुचे, कहीं चैन न पड़े, कहीं सुख न लगे तथा इस ओर सुख मेरे आत्मा में है; मुझे आत्मा कैसे पहिचाननेमें आयें ? कैसे पहिचान हो ? - इस भाँति हर क्षण चैतन्य की लगन लगे, उसकी महिमा आये तो उपयोग सूक्ष्म हुए बिना नहीं रहता। यथार्थ रुचि हो, सच्चा पुरुषार्थ करे, सच्चा कारण प्रगट हो तो कार्य हुए बिना नहीं रहता। जैसे अकौआका (आक) बीज बोये और आम का वृक्ष उगे, ऐसा नहीं बनता; आम का बीज बोये तभी आम का

वृक्ष उगता है; उसी प्रकार आत्मा को यथार्थ पहिचाने, चैतन्य का मूल पहिचाने और पश्चात् उसमें ज्ञान-वैराग्य-ध्यान का सिंचन करे तो वह प्रगट होता है। उसका मूल स्वभाव पहिचानना चाहिये। यह स्वभाव है और यह विभाव है इसप्रकार विभाव-स्वभाव का भेद करके स्वभाव को पहिचानना चाहिये।

सच्ची लगन लगी हो तो कार्य हुए बिना रहता ही नहीं; इसलिये स्वभाव को पहिचानने का ही प्रयास करना, थकना नहीं। उसका प्रयास करने से कार्य होता है और वही स्वभाव को यथार्थरूप से ग्रहण करने की रीति है। (स्वानुभूतिदर्शन-१९२)

ट्रस्ट का इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (फरवरी-२०११) का शुल्क श्री परिचंद्र घोषाल परिवार, (कलकत्ता) के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

अग्रिम निमंत्रण

सद्धर्मप्रेमी धर्मवत्सल भाईश्री / बहिनश्री

वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर १००८ श्री महावीरस्वामी शासन उद्योतकर, जिनधर्म रहस्योद्घाटक, पंचमकाल को चतुर्थकाल में परिवर्तित करनेवाले अनेकान्त स्याद्वादमयी जिनवचन में रमण करनेवाले, अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की अध्यात्म देशना जगप्रसिद्ध है। पूज्य गुरुदेवश्री का महाविदेह से भरत में आगमन होने पर भरतक्षेत्र में पुनः सत्यधर्म का उद्योत हुआ, अनेक जीव आत्मकल्याण के पवित्रकल्याणकारी मार्ग में परायण हुए। शाश्वत् सुखदर्शक जिनवाणी के मर्म को पूज्य गुरुदेवश्री ने स्वयं की देशना द्वारा प्रसिद्ध किया। यह पवित्र गंगा आज भी अविचलरूप से बह रही है और आगे पंचमकाल के अंत तक बहती रहेगी।

प्रत्येक तीर्थकरों के पुराण लिखे जाते हैं। उसमें उनके आगे-पीछे के भवों का भव्य इतिहास अंकित किया जाता है। हमारे पूज्य गुरुदेवश्री भी भविष्य में घातकी खण्ड के भावी तीर्थकर के जीव हैं; यह बात प्रशममर्ति श्री बहिनश्रीने अपने दिव्य अलौकिक जातिस्मरण ज्ञान के झरीये जाहिर किया। तीर्थकर कभी अकेले मोक्ष नहीं जाते, अनेकों भव्य जीव उनके साथ मोक्ष की ओर पदार्पण करते हैं। पूज्य गुरुदेवश्रीने स्वयं के सातिशय भव्य पुरुषार्थ के द्वारा कल्याणकारी सम्यक्दर्शन को प्रगट किया और भारतवर्ष में दिव्यदेशना द्वारा उसका उद्योत किया।

४५-४५ वर्ष तक सोनगढ़ में रहकर उन्होंने आत्मसाधना की। अनेकों जीव पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यवाणी का लाभ पाकर संस्कार को प्राप्त हुए। परन्तु सोनगढ़ की वह पवित्रभूमि तब फलवती हुई कि जब पुरुषार्थमूर्ति अजोड़ धर्मरत्न पूज्य निहालचंद्र सोगानीजीने एक ही प्रवचनश्रवण के माध्यम से भवच्छेदक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और पूज्य गुरुदेवश्री के स्वर्णिम इतिहास में एक यशकलगी लगा दी और गुरु-गौरव को वृद्धिगत किया।

पूज्य सोगानीजी एक ऐसे धर्मात्मा शिष्यरत्न हुए कि जिनका पूज्य गुरुदेवश्री के साथ प्रत्यक्ष चर्चा-वार्तालाप द्वारा विशेष परिचय में आना नहीं हुआ। और तो और उनके परिचय में काफ़ी कम मुमुक्षुओं का आना हुआ और इनमें भी उनकी ज्ञानदशा की पहचान होना सबके बस का काम नहीं। ऐसी परिस्थिति में जिनमार्ग रहस्यज्ञ, विधि-प्रकाशक, निष्कारण करुणाशील, करुणासागर, आत्महितैषी, सौम्यमूर्ति पूज्य 'भाईश्री' शशीभाई का उनके परिचय में आना हुआ परिणामतः पूज्य सोगानीजी के तीव्र पुरुषार्थ की गति को उन्होंने अपनी विचक्षण प्रज्ञा द्वारा परख ली। हालाँकि पीछे से उनके अक्षरदेह को 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' में इनके पत्रों व चर्चा के माध्यम से देखा तो पूज्य गुरुदेवश्रीने सोगानीजी के पुरुषार्थ की तारतम्यता को देखते हुए कहा, ये जीव एकावतारी हैं और हम जब तीर्थकर के भव में दीक्षा ग्रहण करेंगे तब 'णमोः सिद्धाणं' में हमारे नमस्कार उन्हें पहुँचेंगे !! अहो ! धन्य

गुरु ! धन्य शिष्य !

यही पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी की १०० वीं जन्मजयंति मनाने का सद्भाग्य हमें संप्राप्त हुआ है यह हमारा परम सौभाग्य है। इस पावन अवसर पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के हम सांप्रत मुमुक्षु समाज पर हुए उपकार के हृदयंगम करके उनके चरणों में कोटि कोटि प्रणाम करते हैं।

धर्मात्माओं की जन्मजयंति के प्रत्येक प्रसंग मंगलमय ही हैं किन्तु हमारे जीवनकाल में किसी भी धर्मात्मा की १०० वीं जन्मजयंति मनाने का सौभाग्य मिलना यह विशेषतम जानते हुए पूज्य सोगानीजी की १०० वीं जन्मजयंति, दि.१३-५-२०११ को त्रिदिवसीय धार्मिक कार्यक्रम के साथ अति हर्षोल्लास से सोनगढ़ की धन्य धरातल पर निर्मित 'गुरु गौरव' स्मारक में मनाने का निश्चित किया गया है। भारतवर्ष के समस्त मुमुक्षु समाज को इस पावन अवसर पर आमंत्रित करते हैं। यहाँ आमंत्रित मुमुक्षु को पूज्य सोगानीजी, पूज्य गुरुदेवश्री व परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्र की संगेमरमर के उत्किर्ण भव्य प्रतिमाओ का व पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन व पूज्य भाईश्री शशीभाई के भव्य चित्रपट के दर्शन का लाभ होगा। इतना ही नहीं पूज्य सोगानीजी के सचित्र जीवनदर्शन का लाभ भी मिलेगा व सोनगढ़ में निर्मित सर्व जिनायतनों के दर्शन का सुअवसर भी संप्राप्त होगा। आपके आने की अग्रिम सूचना हमें दें ताकि आपके आवास व भोजन की समुचित व्यवस्था की जा सके।

धार्मिक कार्यक्रम

दि.११-५-२०११ से १३-५-२०११

प्रातःकाल : ५-४५	पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा (उसके निवासस्थान पर)
६-३० से ७-१५	जिनमंदिर में पूजन
७-३० से ८-००	चाय-पानी, नास्ता
८-३० से ९-३०	पूज्य गुरुदेवश्री का टेप प्रवचन (स्वाध्या मन्दिर में)
१०-०० से ११-००	पूज्यभाईश्री शशीभाई का टेप प्रवचन (गुरु-गौरव)
११-३० से १२-३०	भोजन
दोपहर ३-०० से ४-००	पूज्य गुरुदेवश्री का टेप प्रवचन (स्वाध्याय मंदिरमें)
४-१५ से ५-१५	पूज्य सोगानीजी का गुणानुवाद (गुरु गौरव)
शाम ६-०० से ७-००	शाम का भोजन
रात्रि ८-०० से ९-००	पूज्य गुरुदेवश्री का टेप प्रवचन (स्वाध्याय मंदिर)
९-१५ से १०-१५	सांस्कृतिक कार्यक्रम व भक्ति (गुरु-गौरव)

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- सूक्ष्म उपयोग की भूमिकामें पहुँचने के लिये क्या करना चाहिये ?

समाधान :- तत्त्व के गहराई से विचार करना, ज्ञायककी लगन लगानी, उसकी महिमा करनी। जो उपयोग बाह्य में जाता है वह सब स्थूल है। उसकी महिमा एवं एकत्वबुद्धि तोड़कर मैं चैतन्य हूँ, मैं महिमा का भंडार हूँ, सर्वस्व मुझमें है, बाहर कुछ नहीं है - ऐसे समस्त विकल्पों के बीच मैं कौन हूँ ? - उसे पहिचानने का प्रयत्न करना। तदर्थ स्वयं सूक्ष्म उपयोग करे तो उसे पहिचान सकता है। बाहर जानेवाला स्थूल उपयोग हो तो पहिचान नहीं सकता। इसलिये तत्त्व के विचार करना। महापुरुषोंने जो मार्ग बतलाया है उसका पठन-विचार करना और स्वयं अंतरमें आत्मा को ग्रहण करने का प्रयत्न करना।

(स्वानुभूतिदर्शन-१८९)



प्रश्न :- विशेष एकान्तवाससे स्वाध्याय हो सकता है ? ऐसे स्थानों की क्या आवश्यकता है ?

समाधान :- जिसे जिसकी रुचि हो वह बीचमें आता ही है। कोई एकान्त में रहे, कोई एकाग्रता करे, परन्तु मुख्य तो अपने आत्मा को ग्रहण करने का प्रयत्न करना। शास्त्र में आता है और आचार्य भी यही कहते हैं कि तू अपने आत्मा को पहिचान तथा उसकी प्रतीति कर। 'रे जानकर बंधन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्म का।' यह बंध क्या है ? और आत्मा क्या है ? वह जानकर 'जो बंधमें हि विरक्त होवें...' बंध तथा बंध के जो भाव, उनसे जो विरक्त हो वह अपने स्वभाव को पहिचाने। जिस प्रज्ञासे स्वभाव को पृथक् किया उससे स्वभाव को ग्रहण करके उसमें एकाग्रता करे वह मुक्ति का मार्ग है - स्वानुभूति का मार्ग है। स्वयं सच्चे ज्ञान के बिना सब बाह्य साधन एकत्रित करे फिर



भी वह पैर कहाँ रखेगा ? कहाँ खड़ा रहेगा ? जो अपने स्वभाव को नहीं पहिचानता वह एकाग्रता कहाँ करेगा ? एकान्तमें कहाँ जायगा ? स्वयं अपने को पहिचानना चाहिये कि मैं यह चैतन्य हूँ। उसके बिना वह कहाँ पग रखेगा ? इसलिये उसे ज्ञानद्वारा-प्रज्ञाद्वारा अपने को पहिचानना चाहिये कि मैं तो यह चैतन्य हूँ। इस प्रकार स्वयं अपने को ग्रहण करके उसमें एकाग्रता करे तो सच्ची एकाग्रता हो; नहीं तो वह मात्र शुभभावनारूप होती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-१९०)



प्रश्न :- मात्र विचारों के माध्यम से स्वभाव का ग्रहण हो सकता है ?

समाधान :- तत्त्वविचार में उसका ध्येय ऐसा होना चाहिये कि मैं आत्मा को ग्रहण कर लूँ। मात्र ऊपरी विचार या शास्त्र के विचार करता रहे तो नहीं होता। स्वभाव का ग्रहण एकदम हो जाय ऐसा न होने से अपने को चैतन्य ग्रहण के, शास्त्र के, द्रव्य-गुण-पर्याय के सब विचार बीचमें भलेही आयें, तथापि उसका ध्येय ऐसा होना चाहिये कि मैं अपने आत्मा को ग्रहण कर लूँ। उसे अपने अस्तित्व को ग्रहण करने का लक्ष्य होना चाहिये कि मुझे अपने आत्मा का ग्रहण कैसे हो ? यद्यपि तत्त्व के विचार वह मुख्य साधन है, तथापि उसमें भी अपने को ग्रहण करने का प्रयत्न होना चाहिये।

(स्वानुभूतिदर्शन-१९१)



प्रश्न :- क्या स्थूल उपयोग को सूक्ष्म बनाने की कोई पद्धति नहीं होती ?

समाधान :- उपयोग स्थूल होने का कारण

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१८ पर)

१७४

बंबई, कार्तिक वदी ५, सोम, १९४७
संतकी शरण में जा।

सुझ भाई श्री अंबालाल,

आपका एक पत्र मिला। आपके पिताश्री का धर्मच्छुक पत्र मिला। प्रसंगवश उन्हें योग्य उत्तर देना हो सकेगा। ऐसी इच्छा करूँगा।

सत्संग यह बड़े से बड़ा साधन है।

सत्पुरुष की श्रद्धा के बिना छुटकारा नहीं है।

ये दो विषय शास्त्र इत्यादि से उन्हें बताते रहियेगा। सत्संग की वृद्धि कीजियेगा।

वि. रायचन्द के यथायोग्य।



१८२

बंबई, मगसिर सुदी १३, बुध, १९४७

आपका कृपापत्र कल मिला। पढ़कर परम संतोष प्राप्त हुआ।

आप हृदय के जो जो उद्गार लिखते हैं, उन सबको पढ़कर आपकी योग्यता के लिये प्रसन्न होता हूँ, परम प्रसन्नता होती है, और वारंवार सत्युग का स्मरण होता है। आप भी जानते हैं कि इस काल में मनुष्यों के मन मायिक संपत्ति की इच्छावाले हो गये हैं। कोई विरल मनुष्य निर्वाण-मार्ग की दृढ़ इच्छावाला रहना सम्भव है; अथवा वह इच्छा किसी एक को ही सत्पुरुष के चरणसेवन से प्राप्त होती है ऐसा है।

महांधकारवाले इस काल में हमारा जन्म किसी कारण से ही हुआ होगा, यह निःशंक है; परन्तु क्या करे ? वह संपूर्णतासे तो वह सुझाये तब हो सकता है। वि. रायचंद।

१८३

बंबई, मगसिर सुदी १४, १९४७

आनन्दमूर्ति सत्स्वरूप को अभेदभाव से त्रिकाल नमस्कार करता हूँ।

परमजिज्ञासा से भरपूर आपका धर्मपत्र परसों मिला। पढ़कर संतोष हुआ।

उसमें जो जो इच्छायें बतायी हैं, वे सब कल्याणकारक ही हैं; परन्तु उन इच्छाओं की सब प्रकारकी स्फुरणा तो सच्चे पुरुष के चरणकमल की सेवामें निहित है। और अनेक प्रकार से सत्संग में निहित है। यह सब अनन्त ज्ञानियों का सम्मत किया हुआ निःशंक वाक्य आपको लिखा है।

परिभ्रमण करते हुए जीवने अनादिकाल से अब तक अपूर्व को नहीं पाया है। जो पाया है वह सब पूर्वानुपूर्व है। इन सबकी वासना का त्याग करने का अभ्यास कीजियेगा। दृढ़ प्रेम से और परमोल्लास से यह अभ्यास विजयी होगा, और वह कालक्रम से महापुरुष के योगसे अपूर्व की प्राप्ति करायेगा। सर्व प्रकार की क्रिया का, योग का, जप का, तप का और इस के सिवाय अन्य प्रकार का लक्ष्य ऐसा रखिये कि यह सब आत्मा को छुड़ाने के लिये हैं; बन्धन के लिये नहीं हैं। जिनसे बन्धन हो वे सब (क्रिया से लेकर समस्त योगादि तक) त्याज्य हैं।

मिथ्यानामधारी के यथायोग्य।